सत्य की खोज :
अनेकान्त के आलोक में

युवाचार्य महाप्रज्ञ

तुलसी अध्यात्म नीडम् प्रकाशन

संपादक

मुनि दुलहराज

प्रकाशन सहयोग : मित्र परिषद्, कलकत्ता द्वारा स्थापित युवाचार्य महाप्रज्ञ साहित्य प्रकाशन कोश।

तृतीय संस्करण : १९८८

मूल्य : दस रुपये/प्रकाशक : तुलसी अध्यात्म नीडम्, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान)/मुद्रक : जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं-३४१३०६।

SATYA KI KHOJ : ANEKANT KE ALOK MEN

Yuvacharya Mahaprajna

Rs. 10.00

प्रकाशकीय

हमारा जगत् है, जीवन है, अस्तित्व है, चेतना है, शरीर विभिन्न क्षमताओ से पूर्ण है—इसमे इन्द्रिया हैं, बुद्धि है।

लेकिन, इन सबके होते हुए भी क्या जीवन का सत्य ज्ञात है ? वह अज्ञात है, अपरिचित है।

सत्य की खोज—जीवन के, अस्तित्व के रहस्यो की खोज है।

जीवन के अनन्त प्रवाह मे आदिम युग से अन्तरिक्ष युग तक मनुष्य विकास की जिस स्थिति पर पहुचा है, क्या वह पूर्ण है ? नही, वह अपर्याप्त है, अधूरा है। मानव चेतना को विकास की अनेक सीढिया तय करनी है। नव-जागरण का अनन्त समुद्र उसके अस्तित्व मे ठाठें ले रहा है, पर उसका प्रस्फुटन आसान नही। जागरण की एक लवी शृखला भीतर प्रतीक्षारत है। इसके वाद ही सत्य की उपलब्धि है, अस्तित्व की पहचान है, जगत् के रहस्यो का प्रकटन है, दु.खो का निवारण है।

इस प्रकार प्रज्ञा के धनी युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ ने स्व अनुभव, चितन-मनन व दार्शनिक दृष्टिकोण से विषय की प्रस्तुति की है। 'सत्य की खोज अनेकान्त के आलोक मे'—भगवान् महावीर के महान् अनेकात सिद्धात का अनेक निष्पत्तियो के साथ निरूपण करती है। सत्य के समीप ले जाती है। अतः यह लघुकाय होते हुए भी अपने आप मे एक पूर्ण कृति है।

सम्पूर्ण कृति तेरह लघु परिच्छेदो मे विभक्त है। भगवान् महावीर के जीवन और सिद्धान्त से लेकर व्यक्ति और समाज, धर्म से आजीविका . इच्छा परिणाम, मनुष्य की स्वतन्त्रता का मूल्य जैसे विषयो को अध्यात्मवाद के साथ-साथ अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र के परिप्रेक्ष्य मे स्पष्ट किया गया है। तत्पश्चात् कर्मवाद, आत्मा और परमात्मा, प्रत्ययवाद और वस्तुवाद, परिणामि—नित्य, तत्त्ववाद जैसे विषयो का अन्य भारतीय दर्शनो के साथ जैन दर्शन की तुलनात्मक व्याख्या के रूप मे स्पष्टीकरण हुआ है। कृति की सबसे वडी विशेषता है कि विभिन्न दार्शनिक विवेचनो के साथ-साथ इसने अपना मौलिक स्वरूप ग्रहण किया है। यह अनेकान्तवाद के अपने वैशिष्ट्य के कारण सम्भव जान पडा है।

इस कृति मे विषय सामग्री जिस रूप मे प्रस्तुत हुई है यह लेखक के ही शब्दो मे प्रकट है—

० विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों का एक साथ होना समन्वय है। वस्तु जगत् मे पूर्ण सामंजस्य और सह-अस्तित्व है। विरोध की कल्पना हमारी बुद्धि ने की है। उत्पाद और विनाश, जन्म और मृत्यु, शाश्वत और अशाश्वत —ये सब साथ-साथ चलते हैं।

० ज्ञान दुर्लभ है। श्रद्धा उससे भी दुर्लभ है। आचरण उससे भी दुर्लभ है। ज्ञान के परिपक्व होने पर श्रद्धा सुलभ हो जाती है और श्रद्धा के सुलभ होने पर आचरण सुलभ होता है।

० धर्म और गरीबी मे कोई सम्बन्ध नही है। धर्म की आराधना न गरीब कर सकता है और न अमीर कर सकता है। जिसके मन मे शान्ति की भावना जागृत हो जाती है वह धर्म की आराधना कर सकता है, फिर चाहे वह गरीब हो या अमीर। धार्मिक व्यक्ति गरीबी और अमीरी दोनो से दूर होकर त्यागी होता है।

० सुविधाओ की संतुष्टि अपेक्षाकृत कम लोग कर पाते हैं। विलासिताओ की सन्तुष्टि कुछ ही लोग कर पाते है। इस क्रम के साथ भगवान् महावीर के दृष्टिकोण—'लाभ से लोभ बढता है'—का अध्ययन करने पर यह फलित होता है कि आवश्यकताओ की वृद्धि के क्रम मे कुछ आवश्यकताओं की संतुष्टि की जा सकती है, किन्तु उसके साथ उभरने वाले मानसिक असंतोष और अशांति की चिकित्सा नही की जा सकती। अर्थशास्त्र द्वारा प्रस्तुत मानव के भौतिक कल्याण की वेदी पर मानव की मानसिक शाति की आहुति नही दी जा सकती। इसलिए भौतिक कल्याण और आध्यात्मिक कल्याण के मध्य सामंजस्य स्थापित करना अनिवार्य है।

० धर्म के सम्बन्ध मे स्वतन्त्रता का चिन्तन करने वाले दार्शनिक व्यक्ति की आन्तरिक प्रभावो से मुक्ति को स्वतन्त्रता मानते है। राजनीति के सन्दर्भ में इसे दार्शनिक, व्यक्ति की बाहरी प्रभावो (व्यवस्थाकृत दोषपूर्ण नियंत्रणो) से मुक्ति को स्वतन्त्रता मानते हैं। धर्म जागतिक नियमो की व्याख्या है, इसलिए उसकी सीमा मे स्वतन्त्रता का सम्बन्ध केवल मनुष्य से नही किन्तु जागतिक व्यवस्था से है।

० आतरिक जगत् मे मनुष्य सीमातीत स्वतन्त्र हो सकता है किन्तु शरीर, कर्म और समाज के प्रतिबन्ध क्षेत्र मे कोई भी मनुष्य सीमातीत स्वतंत्र नही हो सकता।

० यह सच है कि मनुष्य ने ससार को बदला है और यह भी सच है कि वह संसार को अपनी इच्छानुसार एक चुटकी मे नही बदल पाया है, धरती पर निर्बाध सुख की सृष्टि नही कर पाया है।

० महावीर ने कर्म के उदीरण और सक्रमण के सिद्धान्त का प्रतिपादन भाग्यवाद का भाग्य पुरुषार्थ के अधीन कर दिया।

० यदि हम नियति को जागतिक नियम (Universal Law) के रूप मे स्वीकार करें तो पुरुषार्थ भी एक जागतिक नियम है।

० प्रगति का पहला चरण है सकल्प और दूसरा चरण है प्रयत्न।

० ज्ञान होना और संवेदन न होना—यह द्रष्टा का जीवन है। ज्ञान और सवेदन—यह कर्मवाद की पृष्ठभूमि है।

० जैन दर्शन ने कर्मवाद की जो मीमासा की है उसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन अभी नही हुआ है। यदि वह हो तो मनोविज्ञान और योग के नये उन्मेप हमारे सामने आ सकते है।

० सत्य मत्य ही है। वह मेरे लिए एक प्रकार का और दूसरे के लिए दूसरे प्रकार का नही होता। फिर भी यह हो रहा है कि मैं जिसे सत्य मानता हूं दूसरा उसे असत्य मानता है। दूसरा जिसे सत्य मानता है मैं उसे असत्य मानता हू। सत्य का यह विवादास्पद रूप असत्य की ओर ले जाता है। इस प्रश्न को सुलझाने के लिए अनेकान्त की स्थापना करते हुए महावीर ने कहा—सत्य का प्रतिपादन नही किया जा सकता। प्रतिपादन सत्याश का ही हो सकता है। कोई भी मनुष्य अपने जीवन मे सत्य के हजारो पर्यायो से अधिक पर्यायो को अभिव्यक्ति नही दे पाता।

० जैन दर्शन ने प्रत्ययवाद और वस्तुवाद—इन दोनो सत्याशो की सापेक्ष व्याख्या की है।

० प्रत्ययवाद और वस्तुवाद एक-दूसरे से निरपेक्ष होकर असत्याश हो जाते है और परस्पर सापेक्ष होकर सत्याश वन जाते हैं।

० विश्व का प्रत्येक तत्त्व नित्य और अनित्य—इन दोनो धर्मों की स्वाभाविक समन्विति है।

० आइस्टीन का यह सिद्धात है कि द्रव्य (Mass) को शक्ति (Energy) मे और शक्ति को द्रव्य मे वदला जा सकता है। इस द्रव्यमान, द्रव्य—सहति और शक्ति के समीकरण के सिद्धान्त की व्याख्या परिणामि—नित्यवाद के द्वारा ही की जा सकती है।

० सत्य की खोज चिन्तन-मनन और दर्शन से हुई है। उसका विकास सामाजिक सन्दर्भ मे हुआ है।

० चेतन और अचेतन—दोनो निरपेक्ष सत्य है तथा उनमे होने वाले परिवर्तन सापेक्ष सत्य हैं। निरपेक्ष और सापेक्ष—दोनो सत्यो की समन्विति ही वास्तविक सत्य है।

इस प्रकार प्रारम्भ से अन्त तक यह एक रोचक कृति वन पडी है। विषय सामग्री मे रोचकता उत्पन्न करने के लिए भिन्न-भिन्न स्थानो पर लघु सवादो व दृष्टान्तो का प्रयोग अतीव मनोहर रूप मे प्रकट हुआ है।

भगवान् महावीर की पचीसवी निर्वाण शताब्दी पर इस पुस्तक का

प्रथम सस्करण आगम और साहित्य प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित हुआ या। तत्पश्चात् द्वितीय संस्करण की आवश्यकता दीर्घ समय से निरन्तर अनुभव की जा रही थी अतः तुलसी अध्यात्म नीडम् प्रकाशन द्वारा इसे नये रूप मे सत्यान्वेपी पाठको के लिए प्रस्तुत किया गया। तीसरे सस्करण की जरूरत हुई। हमे यह संस्करण निकालते हुए परम हर्प हो रहा है।

हमे आशा है यह मौलिक कृति पाठको के सावना-पथ मे सहयोगी वनेगी।

पर स्मरण रखे—सत्य की खोज स्वयं की अज्ञात गहराइयो मे छलाग लगाने का साधन है। सत्य की खोज स्व-परिवर्तन का मूल-मत्र है। सत्य की खोज स्वयं को पुनर्जन्म की प्रसव पीड़ा से गुजारने की तैयारी है।

मंगल कामनाओ के साथ—

२७ फरवरी, १९८८

धर्मानन्द
तुलसी अध्यात्म नीडम्
जैन विश्व भारती
लाडनू-३४१३०६

स्वकथ्य

विश्व के इतिहास मे अब तक जो सत्य की खोज हुई है, वह पूरी की पूरी सत्य के उपायो की खोज है। उपाय की खोज किए बिना उपेय की खोज नही की जा सकती। सत्य उपेय है। ज्ञान उसका उपाय है।

भगवान् महावीर के समसामयिक सजयवेलट्ठिपुत्त ने कहा था—मैं नही जानता कि वस्तु सत् है तो फिर मैं कैसे कहू कि वह सत् है। मैं नही जानता कि वह असत् है तो फिर मैं कैसे कहू कि वह असत् है। यह भारतीय दर्शन का सशयवाद है। पश्चिमी दर्शन मे सशयवाद के प्रवर्तक 'पाइरो' (३६५-२७५ ई० पू०) है। वे अरस्तू के समसामयिक थे। थेलीज से लेकर अरस्तू तक के दार्शनिको के पारस्परिक मतभेदो को देखकर उन्होने इस सिद्धान्त की स्थापना की कि मनुष्य के लिए वास्तविक सत्य तक पहुचना सदिग्ध है। निर्विकल्प स्वानुभूति, सविकल्प बुद्धि और इन्द्रियानुभूति निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न नही कर सकती। इसलिए सत्य को जानने का कोई उपाय नही है। काट के अनुसार ज्ञान के लिए इन्द्रिय-सवेदन और बुद्धि-विकल्प—दोनो अनिवार्य हैं। ज्ञान सत्य और निश्चित होता है। सत्यता इन्द्रिय-सवेदनो से आती है और निश्चय बुद्धि-विकल्प से आता है।

भगवान् महावीर ने कहा—सत्य की उपलब्धि के दो उपाय हैं—अतीन्द्रिय ज्ञान और इन्द्रिय-ज्ञान। अतीन्द्रिय ज्ञान योगी को होता है या विशेष परिस्थितियो मे होता है। वह सामान्य नही है। सर्वसामान्य ज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान है। इसमे इन्द्रिय, मन और बुद्धि—तीनो समन्वित हैं। इन्द्रिय-सवेदन न सत्य होता है और न असत्य होता है। सापेक्ष होकर वह सत्य होता है और निरपेक्ष रहकर वह असत्य हो जाता है। बुद्धि-विकल्प न सत्य होता है और न असत्य होता है। सापेक्ष होकर वह सत्य होता है और निरपेक्ष रहकर वह असत्य हो जाता है। इन्द्रिय-ज्ञान और वचन-विकल्प की सत्यता सापेक्षता पर निर्भर है। इसलिए अनेकान्त का दूसरा नाम सापेक्षवाद है। हम द्रव्य के एक धर्म का प्रतिपादन करते हैं या कर सकते है। उस समय हम एक समस्या मे उलझे होते है। हमारा बुद्धिविकल्प और वचन-विकल्प द्रव्य के जिस स्वरूप का ग्रहण और प्रतिपादन कर रहा है, वह यदि वही हो तो द्रव्य एक धर्मवाला बन जाए और वह उससे अतिरिक्त हो तो हमारा ग्रहण और प्रतिपादन पूर्ण-सत्य का ग्रहण और प्रतिपादन नहीं होता। इस समस्या को

सुलझाने के लिए अनेकान्त के आचार्यों ने एक मत सुझाया। उन्होंने कहा— प्रत्येक बुद्धि-विकल्प के साथ हम अपेक्षा को जोड़ें और प्रत्येक वचन-विकल्प के साथ हम 'स्यात्' का प्रयोग करें। इससे वक्ता और श्रोता—दोनों इस विषय मे स्पष्ट रहेगे कि जो समझा और कहा जा रहा है वह द्रव्य का एक धर्म है और वह द्रव्य के शेष अनन्त धर्मों से अविभक्त है। 'स्यात्' शब्द से युक्त वचन-विकल्प स्याद्वाद कहलाता है। हम सापेक्षवाद और स्याद्वाद के सहारे अनेकान्त को समझ सकते है और अनेकान्त के सहारे सत्य तक पहुच सकते है। यह सत्य की उपलब्धि का वह उपाय है, जिसने सशय और आग्रह से मुक्त रहकर अनाग्रह और निश्चय का मणिकाचन योग किया है।

प्रस्तुत पुस्तक मे मैंने कुछ समस्याओ का अनेकान्त के दृष्टिकोण से मूल्याकन किया है। यह सर्वग्राही दृष्टिकोण समस्याओ के समाधान का महत्त्वपूर्ण साधन है। अपेक्षा है कि हम इसका मूल्याकन करें।

आचार्यश्री तुलसी मेरे प्रेरणा-स्रोत है। उनकी एक प्रेरणा अनेक रूपो मे प्रतिबिम्बित हो जाती है। उक्त ग्रथ मे भी प्रतिबिम्बित सुदृष्ट है।

इस ग्रंथ के संपादन का कार्य मुनि दुलहराजजी ने किया है। वे मेरी कृति का, लेखन के अतिरिक्त, सारा दायित्व सम्हाल कर मेरे कार्य को सरल बना देते है और मैं सदा अपने को भारमुक्त अनुभव करता हू।

काफी समय प्रतीक्षारत इस पुस्तक का दूसरा सस्करण भी प्रत्येक वर्ग के लिए ग्राह्य, उपादेय होगा इसी आशा और आश्वासन के साथ—

युवाचार्य महाप्रज्ञ

जोधपुर
१० सितम्बर, १९८४

अनुक्रमणिका

१

भगवान् महावीर : जीवन और सिद्धान्त

गृहवास के तीन वर्ष

ढाई हजार वर्ष पुराना भारत दो राजनीतिक प्रणालियो मे बटा हुआ था। मगध, अग, वग, कलिग, वत्स, अवन्ती, उत्तरी कोशल आदि राजतन्त्र की प्रणाली से शासित थे। वैशाली मे लिच्छवि, कपिलवस्तु मे शाक्य, कुशीनारा और पावा मे मल्ल गणराज्य था। वहा की जनता गणतत्र की शासन प्रणाली से शासित थी। राजतत्र की प्रणाली मे राजा ईश्वर का अवतार माना जाता था। गणतत्र की प्रणाली मे शासक मात्र मानव समझा जाता था। महावीर वैशाली गणतत्र के शासक-सदस्य श्री सिद्धार्थ के पुत्र थे। उनकी माता का नाम त्रिशला था। क्षत्रियकुण्डग्राम वैशाली का उपनगर था। उस पुण्यभूमि मे महावीर ने जन्म लिया था। ईस्वी पूर्व ५९९, ३० मार्च (चैत्र शुक्ला त्रयोदशी) को उनका जन्म हुआ था। उनका शैशव कैसा था, यौवन कैसा था, इस विषय मे बहुत कम जानकारी मिलती है। महावीर जीवन के अट्ठाईस वर्ष पूर्ण कर रहे थे, तब उनके माता-पिता स्वर्गवासी हो गए। उन्होने श्रमण होने की भावना प्रकट की। उनके चाचा सुपार्श्व और बडे भाई नन्दिवर्धन ने कुछ वर्षो तक घर मे रहने का अनुरोध किया। महावीर की विनम्रता उसे अस्वीकार नही कर सकी और उनका संकल्प गृहवास को स्वीकार नही कर सका। इस अन्तर्द्वन्द्व ने एक नए मार्ग की खोज की। शायद यही उन्होने यह सूत्र निर्मित किया होगा—जिसकी वासना नही छूटी और श्रमण हो गया वह घर मे नही है पर घर से दूर भी नही है। वासना से मुक्त होकर घर मे रहते हुए भी घर से दूर रहा जा सकता है। वे दो वर्ष तक घर मे रहते हुए घर से दूर रहे। इस अवधि मे उन्होने विदेह-साधना की।

वे परिवार के बीच रहकर भी एकान्त मे रहे। जिनकी शरीर मे आसक्ति नही रहती, वह समुदाय मे रहकर भी अकेला रह सकता है।

उन्होने अस्वाद का विशिष्ट अभ्यास किया। जिसे देहातीत अवस्था मे रस का अनुभव हो जाता है, उसे अस्वाद की उपलब्धि करने मे कठिनाई नही होती।

वे मौन और ध्यान मे लीन रहे। जिसके लिए बाह्य जगत् मे अभि-

व्यक्त होने का प्रयोजन शेष नही रहता, उसकी वाणी मौन हो जाती है, विकल्प शून्य हो जाते हैं।

इन दो वर्षों की साधना से उनके श्रामण्य की पृष्ठभूमि और अधिक सुदृढ़ हो गई। गुरुजनों के अनुरोध की अवधि पूर्ण हुई। उन्होंने अनुभव किया—घर मे रहते हुए घर से दूर रहना सम्भव हो सकता है, पर यह सामुदायिक मार्ग नही है। यह कुछ लोगो का मार्ग है। सामुदायिक मार्ग यह हो सकता है—घर की वासना को छोड़ना और साथ-साथ घर को भी छोड देना। सवके कल्याण की वात सोचने वाला सामुदायिक मार्ग पर चलता है। महावीर ने घर को छोडने के लिए परिवार की अनुमति प्राप्त कर ली और वे वहा से अभिनिष्क्रमण कर क्षत्रियकुण्डग्राम के वाहर उद्यान मे गए। जनता के समक्ष उन्होंने स्वयं, श्रमण की दीक्षा स्वीकार की, आजीवन समता के पथ पर चल पड़े।

साधना के वारह वर्ष

भगवान् महावीर की साधना का पहला चरण इस सकल्प के साथ उठा—आज से मैं विदेह रहूगा, देह की सुरक्षा नही करूगा। सर्दी-गर्मी के परीषहो को झेलूगा। जो भी कष्ट आए, उसे सहन करूगा। रोग की चिकित्सा नही कराऊंगा। भूख और प्यास की वाधा मे अभिभूत नही होऊगा। नींद पर विजय प्राप्त करूगा।

भगवान् महावीर ने अनुभव किया—अभय के सधे विना समता नही सध सकती और विदेह के सधे विना अभय नही सध सकता। मानवीय दुर्बलताओ का मूल स्रोत भय है। मानव की महान् शक्ति के विकास का मूल स्रोत अभय है। भय का आदि बिन्दु है—देह की आसक्ति। उसकी आसक्ति को छोडना, विदेह होना, अभय सिद्धि की अनिवार्य शर्त है।

भगवान् महावीर जैसे-जैसे विदेह की साधना मे आगे वढे, वैसे-वैसे उनकी अहिंसा, मैत्री और शान्ति की शिखा अधिक प्रज्वलित हो गई। हिंसा, वैर और अशान्ति—ये सव देह मे होते हैं, विदेह मे नही होते।

सर्प और समता

महावीर कनखल आश्रम के पार्श्ववर्ती देवालय के मण्डप मे ध्यान कर रहे थे। चण्डकौशिक सर्प ने दृष्टि से विष का विकिरण किया। भगवान् पर उसका कोई प्रभाव नही हुआ। वह भगवान् के पैरो मे लिपट वार-वार उन्हे डसने लगा। उनकी आखो मे निरन्तर अमृत की धारा वहती रही। उनका मैत्रीभाव विष को निर्विष करता रहा। अहिंसा की हिंसा पर विजय हुई। सर्प का क्रोध शान्त हो गया। उसने सदा के लिए अहिंसा का वरण कर लिया।

महावीर जैसे-जैसे साधना मे आगे बढे, वैसे-वैसे उनकी चेतना मे समता का सूर्य अधिक आलोक देने लगा। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह —सब उस आलोक मे आलोकित हो उठे।

अरक्षा : सबसे बड़ी सुरक्षा

महावीर ध्यान कर रहे थे। एक ग्वाला आया। साथ मे बैल थे। उन्हे वहा चरने के लिए छोड वह घर चला गया। उसने लौटकर देखा, बैल वहा नही है। वह क्रुद्ध हो गया। बैलो को खोजने इधर-उधर घूमने लगा। थोडी देर बाद फिर वही पहुचा, जहा महावीर ध्यान कर रहे थे। बैलो को महावीर के आस-पास बैठे देखकर वह स्तब्ध रह गया। 'यह श्रमण बैलो को हथियाना चाहता है', इस सन्देह ने ग्वाले का क्रोध प्रज्वलित कर दिया। वह रस्सी को आकाश मे उछालता हुआ महावीर पर प्रहार करने को आगे बढा, इतने मे नदिवर्धन वहा आ पहुचा। उसने ग्वाले को समझा-बुझाकर शान्त कर दिया। नदिवर्धन ने महावीर की सुरक्षा की व्यवस्था करनी चाही। महावीर ने उसे अस्वीकार कर दिया। उन्होने कहा – 'जो अपने आपको असुरक्षित अनुभव करता है, वह अध्यात्म के पथ पर नही चल सकता। अध्यात्म के पथ पर चलने वाला अपने आपको सदा सुरक्षित अनुभव करता है। मुझे किसी सुरक्षा की अपेक्षा नही है। स्वतत्रता और स्वावलम्बन ही मेरी सुरक्षा है।'

ऊर्जा का ऊर्ध्वगमन

महावीर ध्यान की मुद्रा मे खडे थे। कुछ युवतियो ने आकर सहवास के लिए प्रार्थना की। भगवान् ने उस पर कोई ध्यान नही दिया। युवतियो ने उन्हे अपने मायाजाल मे फसाने की अनेक चेष्टाए की, पर उनकी चैतन्य-केन्द्र की ओर बहने वाली ऊर्जा का एक कण भी काम-केन्द्र की ओर प्रवाहित नही हुआ। भगवान् के ध्यान की धारा अविच्छिन्न चलती रही। युवतिया जिस दिशा से आई थी उसी दिशा मे लौट गई।

कैवल्य

भगवान् महावीर की साधना का मूलमन्त्र है—समता। न राग और न द्वेष - चेतना की यह अनुभव-दशा समता है। भगवान् ने अनुभव किया, दुःख का मूल बीज है कर्म और कर्म का मूल बीज है राग-द्वेष। हिंसा, असत्य चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह— ये राग-द्वेष के ही परिणाम हैं, राग-द्वेष के होने पर ये होते हैं, उसके न होने पर नही होते। भगवान् ने साढे बारह वर्ष के साधनाकाल मे केवल ३५० दिन भोजन किया। शेष समय उपवास मे बीता। उन्होने छह मास तक लगातार उपवास किये। भगवान् ने समूचे

साधनाकाल मे कुल मिलाकर अड़तालीस मिनट से अधिक नींद नही ली। भगवान् ने सर्दी-गर्मी से बचने के लिए कभी वस्त्र नही ओढा। कष्ट आने पर किसी की शरण मे नही गये। चींटियों ने सताया, जंगली मच्छरो ने काटा, अग्नि से पैर झुलस गये। पर भगवान् ने उनका वैसे अनुभव किया जैसे कुछ हुआ ही न हो। लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, निंदा-स्तुति, मान-अपमान, जीवन-मरण के अनगिन प्रसंगो और घटनाओ ने भगवान् की समता की कसौटी की। पर हर कसौटी मे वे खरे उतरे। उनकी विदेह-साधना सिद्ध हो गई। उनकी अभय-साधना सिद्ध हो गई। उनकी समता की साधना सिद्ध हो गई। वे वीतराग की भूमिका मे केवली हो गये। परोक्ष ज्ञान का लौहावरण टूट गया। उनकी चेतना अनावृत हो गई। उन्हे ज्ञान के माध्यमो की अपेक्षा नही रही। इन्द्रिय, मन और बुद्धि की उपयोगिता समाप्त हो गई। उनके लिए सब कुछ प्रत्यक्ष हो गया। साधनाकाल मे भगवान् प्रायः मौन, असंग और ध्यानस्थ रहे। साधना की सिद्धि होने पर उन्होंने सत्य की व्याख्या की। उन्होंने व्याख्या का माध्यम जन-भाषा को बनाया। उनके उपदेश आज भी उस समय की जनभाषा—प्राकृत मे मिलते हैं।

सत्य

ईस्वी पूर्व छठी शताब्दी सत्य की उपलब्धियो की शताब्दी है। उस शताब्दी मे भारतीय क्षितिज पर महावीर और बुद्ध, चीनी क्षितिज पर लाओत्से और कन्फ्यूशियस, यूनानी क्षितिज पर पाइथेगोरस जैसे महान् धर्मवेत्ता सत्य के रहस्यो का उद्घाटन कर रहे थे। वे भौगोलिक सीमा से विभक्त होने पर भी सत्य की सीमा मे अविभक्त थे। उनका प्रतिपादन इस तथ्य की घोषणा है कि सत्य शाश्वत है। वह देश और काल से व्यवच्छिन्न नही है।

ईस्वी पूर्व नवीं शताब्दी मे जैन धर्म के महान् तीर्थंकर भगवान् पार्श्व हो चुके थे। उनका धर्मशासन सत्य का सापेक्ष उद्घोष कर रहा था। उस समय उपनिषद् लिखे जा रहे थे। औपनिषदिक ऋषि नेति-नेति के द्वारा सत्य की व्याख्या कर रहे थे। महावीर के समय तक उसकी पुनरावृत्ति हो रही थी। बुद्ध ने कहा—'सत्य अव्याकृत है।' लाओत्से ने कहा—'सत्य कहा नही जा सकता।' महावीर ने कहा—'सत्य नही कहा जा सकता, यह जितना वास्तविक है, उतना ही वास्तविक यह है कि सत्य कहा जा सकता है। सत्य कहा जा सकता है—इसका स्वीकार यदि अवास्तविक है तो सत्य नही कहा जा सकता— इसका स्वीकार भी वास्तविक नही है। वास्तविकता इन दोनों के समन्वय से प्राप्त होती है। विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों का एक साथ होना समन्वय है। वस्तु-जगत् मे पूर्ण सामंजस्य और सह-अस्तित्व है। विरोध की कल्पना हमारी बुद्धि ने की है। उत्पाद और विनाश, जन्म और मौत,

शाश्वत और अशाश्वत—ये सब साथ-साथ चलते हैं।

महावीर के ज्येष्ठ शिष्य गौतम ने एक बार पूछा—

'भंते! सत्य क्या है?'

'वह बताया नहीं जा सकता।'

'तो हम उसे कैसे जानें?'

'तुम स्वयं उसे खोजो।'

'उसकी खोज कैसे करें?'

'कर्म को छोड़ दो—मन को विकल्पों से मत भरो, मौन रहो, शरीर को स्थिर रखो।'

'भंते! फिर जीवन कैसे चलेगा?'

'संयत कर्म करो—बोलना आवश्यक ही हो तो संयम से बोलो। चलना आवश्यक ही हो तो संयम से चलो। खाना आवश्यक ही हो तब संयम से खाओ। सब कुछ संयम से करो।

'भंते! सत्य की खोज का मार्ग बताया जा सकता है, तब सत्य क्यों नहीं बताया जा सकता?'

'ये सत्यांश हैं। सत्यांश बताया जा सकता है। मैं सत्य को सापेक्ष प्रतिपादन करता हूं। पूर्ण सत्य नहीं बताया जा सकता। इसलिए मैं कहता हूं कि सत्य नहीं कहा जा सकता। सत्यांश बताया जा सकता है, इसलिए मैं कहता हूं कि सत्य कहा जा सकता है। सत्य अवक्तव्य और सत्य वक्तव्य है—इन दोनों का सापेक्ष बोध ही सम्यग् ज्ञान है।'

वक्तव्य सत्य

'भंते! वक्तव्य सत्य क्या है?'

'अभेद की दृष्टि से अस्तित्व (होना मात्र) सत्य है और भेद की दृष्टि से द्रव्य और पर्याय सत्य है। द्रव्य शाश्वत है। पर्याय अशाश्वत है। शाश्वत और अशाश्वत का समन्वय ही सत्य है। जब हम विश्व को ज्ञेय की दृष्टि से देखते हैं तब चेतन और अचेतन द्रव्य के त्रैकालिक अस्तित्व और परिवर्तन का समन्वय सत्य और उनका विभाजन असत्य है। जब हम विश्व को हेय और उपादेय की दृष्टि से देखते हैं तब श्रेय सत्य है और प्रेय असत्य है।

ज्ञान और कर्म का समन्वय

महावीर न कोरे दार्शनिक थे और न कोरे धार्मिक। वे दर्शन और धर्म के समन्वयकार थे। उन्होंने सत्य को देखा, फिर चेतना के विकास के लिए अनाचरणीय का संयम और आचरणीय का आचरण किया।

महावीर ने कहा—अकेला ज्ञान, अकेला दर्शन (भक्ति) और अकेला पुरुषार्थ (कर्म) मनुष्य को दुःख-मुक्ति की ओर नहीं ले जाता। ज्ञान, दर्शन

और आचरण का समन्वय ही उसे दु.ख-मुक्ति की ओर ले जाता है। इस दर्शन के आधार पर उन्होने इस सूत्र का प्रतिपादन किया—पहले जानो, फिर करो। ज्ञान-हीन कर्म और कर्महीन ज्ञान—ये दोनो व्यर्थ हो जाते है। ज्ञात सत्य का आचरण और आचरित सत्य का ज्ञान—ये दोनो एक साथ होकर ही सार्थक होते है।

श्रद्धा : ज्ञान और आचार का सेतु

ज्ञान और आचार के बीच मे एक दूरी बनी रहती है। हम बहुत सारे सत्यो को जानते है, पर उनका आचरण नही करते। ज्ञान सीधा आचरण से नही जुडता। उन दोनो को जोडने वाला सेतु श्रद्धा है। वह ज्ञात सत्य के प्रति आकर्पण पैदा करता है। आकर्पण पुष्ट हो जाता, तब ज्ञान स्वय आचार बन जाता है। हम लोग समझते है कि जिनका ज्ञान न हो उसके प्रति श्रद्धा करनी चाहिए। महावीर ने ठीक इसके विपरीत कहा जिसका ज्ञान हो जाये उसके प्रति श्रद्धा करनी चाहिए। श्रद्धा अज्ञान का सरक्षण नही करता। वह ज्ञान को आचरण तक ले जाती है। ज्ञान दुर्लभ है। श्रद्धा उससे भी दुर्लभ है। आचरण उससे भी दुर्लभ है। ज्ञान के परिपाक होने पर श्रद्धा सुलभ होती है और श्रद्धा के सुलभ होने पर आचरण सुलभ होता है।

आत्मा और परमात्मा

महावीर ने किसी शास्त्र को ईश्वरीय ज्ञान नही माना। उन्होने यह घोपणा की कि ज्ञान का मूल स्रोत मनुष्य है। आत्मा से भिन्न कोई परमात्मा नही है। आत्मा ही कर्मबन्धन से मुक्त होकर परमात्मा बनती है। उनके दर्शन मे स्वतः प्रामाण्य शास्त्र का नही है, मनुष्य का है। वीतराग मनुष्य प्रमाण होता है और अन्तिम प्रमाण अपनी वीतराग दशा है।

सहअस्तित्व

महावीर अनेकात्मवादी थे। उन्होने बताया आत्माएं अनन्त है। वे किसी एक आत्मा के अश नही हैं। प्रत्येक आत्मा दूसरी आत्मा से स्वतन्त्र है। सब आत्माओ मे चैतन्य है, पर वह सामुदायिक नही है। वह हर आत्मा का अपना-अपना है, स्वतन्त्र है। जैसे आत्माए अनेक है, वैसे उनकी योनिया भी अनेक है। कोई आत्मा पशु-जीवन मे है और कोई मनुष्य जीवन मे। मनुष्य जीवन मे भी अनेक विभाजन हैं। कोई मनुष्य शीत कटिबन्ध मे जन्मा हुआ है तो कोई उष्ण कटिबन्ध मे। कोई गोरा है तो कोई काला है। महावीर के युग मे भारतीय मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णो मे बटा हुआ था। ये विभाजन मनुष्य के अपने कर्म-

सस्कार, भौगोलिक वातावरण और समाज-व्यवस्था के आधार पर हुये थे। पर मनुष्य का अहंकार प्रवल होता है। जिम वर्ग को अहकार प्रवट करने की सुविधा मिली, उसने उच्चता और नीचता की दीवारें खडी कर दी। जन्मना जाति स्थापित हो गई। उच्च कहलाने वाले मनुष्य नीच कहलाने वाले मनुष्य के साथ पशु से भी हीन व्यवहार करने लगे। इस स्थिति मे महावीर ने चिन्तन किया कि वस्तु-जगत् मे समन्वय है, सहअस्तित्व है तो फिर मानव-जगत् मे समन्वय और सहअस्तित्व क्यो नही होना चाहिए ? इस उत्प्रेक्षा के आधार पर उन्होने मैत्री का सूत्र प्रस्तुत किया। उन्होने कहा—सव जीवो के साथ मैत्री करो। मैत्री का सिद्धान्त वहुत अच्छा है। सिद्धान्त का सौन्दर्य व्यवहार का सौन्दर्य वन जाये यह सरल नही है। स्वभाव, रुचि और चिन्तन की धारा भिन्न होने पर मैत्री टूट जाती है। महावीर ने उसे साधने का सूत्र दिया—सहिष्णुता। उन्होने वताया—भेद के पीछे छिपे हुए अभेद को मत भूलो। तुम जिससे भिन्न हो उससे उतने ही अभिन्न हो। जिससे अभिन्न हो उससे उतने ही भिन्न हो। किसी से सर्वथा भिन्न नही हो। जव सवसे भिन्न-भिन्न हो, तव भेद को सामने रखकर कैसे किसी को शत्रु मानते हो और अभेद को सामने रखकर कैसे किसी को मित्र मानते हो ? तुम जिसे शत्रु मानते हो उसे भी सहन करो और जिसे मित्र मानते हो उसे भी सहन करो। इस सूत्र से अपने आपको भावित करो—

मैं सव जीवो को सहन करता हू,
वे सव मुझे सहन करें।
मेरी सवके प्रति मैत्री है,
किसी के प्रति मेरा वैर नही है।

तुम सवसे भिन्ना-भिन्न हो तव कैसे किसी को नीच मानते हो और कैसे किसी को उच्च मानते हो ? तुम जिसे नीच मानते हो, वह भी तुम्हारे मन का अहकार है और जिसे तुम उच्च मानते हो वह भी तुम्हारे मन का अहकार है। अहकार को छोड यथार्थ को देखो। मनुष्य कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और कर्म से शूद्र होता है। यह कर्म का विभाजन है इस विभाजन के साथ अहंकार को छोडकर उच्चता और नीचता की रेखाए निर्मित मत करो मनुष्य को तोड कर मत देखो। व्यक्तित्व और कर्तृत्व के साथ जुडी हुई मानवीय एकता को मत भूलो। इस घोष ने भारतीय मानस को आन्दोलित कर दिया। अनेकता एकता से पृथक् नही है और एकता अनेकता से पृथक् नही है। यह सहअस्तित्व का मौलिक आधार है। इसी आधार पर मानवीय एकता सभव हो सकती है। इसी आधार पर भिन्न-भिन्न शासन-प्रणालिया एक साथ चल सकती है। अनेकता स्वाभाविक है। उसे मिटाया नही जा सकता। शान्तिपूर्ण जीवन के लिए सहअस्तित्व अनि-

वाय है। उसे छोडा नही जा सकता।

दर्शन का धर्म अवतरण

बीज की निष्पत्ति पेड और पेड की निष्पत्ति फल है। दर्शन की निष्पत्ति धर्म और धर्म की निष्पत्ति नैतिकतापूर्ण व्यवहार है। जब हम भीतर से देखते हैं, तब दर्शन से धर्म की ओर धर्म से नैतिकता की भूमिका पर आते हैं। जब हम बाहर से देखते है तब नैतिकता से धर्म की ओर धर्म से दर्शन की भूमिका पर चले जाते है। महावीर का दर्शन भीतर से बाहर की ओर था। उसी आधार पर उन्होने कहा--जिसका दृष्टिकोण सम्यक् है वही व्रती होगा। अहिंसा का व्रती अपने आश्रितो और कर्मकरो के प्रति क्रूर व्यवहार नही करेगा, उनकी आजीविका मे विघ्न नही डालेगा। सत्य का व्रती विश्वासघात नही करेगा। झूठी गवाही नही देगा। अचौर्य का व्रती मिलावट नही करेगा, असली वस्तु दिखाकर नकली वस्तु नही देगा। ब्रह्मचर्य का व्रती विलासपूर्ण सामग्री का उपयोग नही करेगा। अपरिग्रह का व्रती सग्रह की एक सीमा करेगा। व्यक्तिगत जीवन मे सयमी रहेगा। जिसके जीवन मे नैतिकता नही है, उसमे धर्म नही हो सकता। नैतिकता-विहीन धर्म की कल्पना महावीर के लिए सर्वथा असम्भव थी। धर्म के आचरण से व्यक्ति के जीवन-व्यवहार मे कोई परिवर्तन नही आता, सामाजिक सम्बन्धो पर उसका कोई प्रभाव नही होता तो कैसे समझा जाए कि धर्म का आचरण करने वाले जीवन मे धर्म है ? धर्म शुद्ध आत्मा मे उतरता है। आत्मा की शुद्धता होनी है, वहा अनैतिकतापूर्ण व्यवहार सम्भव नही हो सकता।

मौलिक सिद्धान्त

महावीर ने तत्त्व, धर्म और व्यवहार के जिन सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया और जिन सिद्धान्तो ने जनमानस को आन्दोलित किया, वे आज भी उतने ही महत्त्वपूर्ण है जितने ढाई हजार वर्ष पूर्व थे। सक्षेप मे उन सिद्धान्तो और उनसे फलित शिक्षाओ का आकलन इस प्रकार किया जा सकता है—

१. अनेकान्त और स्याद्वाद

१. तत्त्व को अनन्त दृष्टिकोण से देखना अनेकान्त और उसका सापेक्ष प्रतिपादन करना स्याद्वाद है। सत्य अनन्त-धर्म है। एक दृष्टिकोण मे उसके एक धर्म को देखकर शेष अदृष्ट धर्मों का खडन मत करो।

२. एक ज्ञात धर्म को ही सत्य और शेष अज्ञात धर्मों को असत्य मत कहो।

३ सत्य की सापेक्ष व्याख्या करो। अपने विचार का आग्रह मत करो। दूसरो के विचारो को समझने का प्रयत्न करो।
४. प्रत्येक विचार सत्य हो सकता है और प्रत्येक विचार असत्य हो सकता है। एक विचार दूसरे विचारो से सापेक्ष होकर सत्य होता है। एक विचार दूसरे विचारो से निरपेक्ष होकर असत्य हो जाता है।
५ अपने विचार की प्रशसा और दूसरे के विचार की निन्दा कर अपने पाडित्य का प्रदर्शन मत करो।

अहिंसक क्रान्ति

राग और द्वेष से मुक्त होना अहिंसा है। सब जीवो के प्रति संयम करना, समभाव रखना अहिंसा हैं। समानता का भाव सामुदायिक जीवन मे विकसित होता है तब अहिंसक क्रान्ति घटित हो जाती है। महावीर ने अहिंसक क्रान्ति के लिए जनता को ये सूत्र दिए—

१. किसी का वध मत करो।
२. किसी के साथ वैर मत करो। जो दूसरो के साथ वैर करता है, वह अपने वैर की शृखला को और प्रलम्ब कर देता है।
३, सबके साथ मैत्री करो।
अहिंसा के इन सूत्रो का मूल्य वैयक्तिक था। महावीर ने सामाजिक सदर्भ मे भी अहिंसा के सूत्र प्रस्तुत किये—
४. उस समय दास-प्रथा चालू थी। सम्पन्न मनुष्य विपन्न मनुष्य को खरीदकर दास बना लेता था। महावीर ने इस हिंसा के प्रति जनता का ध्यान आकर्षित किया। उन्होने एक सूत्र दिया—दास बनाना हिंसा है, इसलिए किसी को दास मत बनाओ।
५. उस समय के पुरुष स्त्रियो को और शासक वर्ग शासितो को पराधीन रखना अपना अधिकार मानते थे। महावीर ने इस ओर जनता का ध्यान खीचा कि दूसरो को पराधीन बनाना हिंसा है। उन्होने अहिंसा का सूत्र यह दिया— दूसरो की स्वाधीनता का अपहरण मत करो।
६ उस समय उच्च और नीच – ये दो जातियां समाज-व्यवस्था द्वारा स्वीकृत थी। उच्च जाति नीच जाति से घृणा करती थी। उसे अछूत भी मानती थी। महावीर ने इस व्यवस्था को अमानवीय प्रतिपादित किया। उन्होंने कहा—जाति वास्तविक नहीं है। जाति-व्यवस्था परिवर्तनशील है, काल्पनिक है। इसे शाश्वत का रूप देकर हिंसा को प्रोत्साहन मत दो। किसी मनुष्य से घृणा

मत करो। उन्होंने सब जाति के लोगो को अपने सघ मे सम्मिलित कर 'मनुष्य जाति एक है' – इस आन्दोलन को गतिशील बना दिया।

७. उस समय स्वर्ग की प्राप्ति के लिए पशुबलि दी जाती थी। महावीर ने कहा—स्वर्ग मनुष्य का उद्देश्य नही है उसका उद्देश्य है निर्वाण—परमशान्ति। पशुबलि से स्वर्ग नही मिलता। जो पशुबलि देता है, वह मूक पशुओ की हिंसा कर अपने लिए नरक का द्वार खोलता है।

८. उस समय माना जाता था कि युद्ध मे मरने वाला स्वर्ग मे जाता है। महावीर ने इसकी अवास्तविकता का प्रतिपादन करते हुए कहा—'युद्ध हिंसा है। वैर से वैर बढता है। उससे समस्या का समाधान नही होता।'

९. आक्रमण मत करो। मांसाहार और शिकार का वर्जन करो।

३. अपरिग्रह

मन मे ममत्व का भाव न होना अपरिग्रह है। वस्तुओ का सग्रह न करना अपरिग्रह है। महावीर ने हिंसा और अपरिग्रह को तोडकर नही देखा। मन मे हिंसा का भाव (अहकार या ममकार) होता है तब सग्रह करने की वृत्ति जागती है और जब मनुष्य सग्रह करता है तब उसकी हिंसा प्रबल हो उठती है। इस प्रकार हिंसा के लिए सग्रह और सग्रह के लिए हिंसा—यह चक्र चलता रहता है।

महावीर ने अपरिग्रह के इन सूत्रो का प्रतिपादन किया—

१. अपने शरीर और परिवार के प्रति होने वाले ममत्व को कम करो।

२. उपभोग की वस्तुओं का संयम करो।

३. धन-सम्पदा बढाने या उसकी सुरक्षा करने के लिए फैलाव मत करो—विस्तारवादी नीति मत अपनाओ।

४. दूसरो के स्वत्व पर अधिकार करने के लिए आक्रमण मत करो।

४. पुरुष और पौरुष

१ मनुष्य अपने सुख-दुःख का कर्ता स्वयं है। अपने भाग्य का विधाता वह स्वय है।

२. राजा देव नही है, ईश्वर का अवतार नहीं है। वह मनुष्य है, उसे देव मत कहो, सम्पन्न मनुष्य कहो।

३ ग्रंथ मनुष्य की कृति है। पहले मनुष्य, फिर ग्रथ। कोई भी ग्रंथ ईश्वरीय नहीं है।

४. विश्व की व्यवस्था शाश्वत द्रव्यो के योग या परस्परापेक्षिता मे स्वतः सचालित है। वह किसी एक सर्वशक्तिमान् सत्ता द्वारा संचालित नही है।
५. यह विश्व छह द्रव्यों की सघटना है। वे ये है—
   धर्म—गतितत्त्व।
   अधर्म—स्थितितत्त्व।
   आकाश।
   काल।
   पुद्‌गल।
   जीव।
६. मनुष्य अपने ही कर्तव्य से उत्क्रान्ति और अपक्रान्ति करता है। इस प्रसग मे महावीर ने जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, निर्जरा, वध और मोक्ष—इन तत्त्वो की व्याख्या की।
७. मनुष्य भाग्य या कर्म के यंत्र का पुर्जा नही है। भाग्य मनुष्य को नही बनाता, मनुष्य भाग्य को बनाता है। वह अपने पुरुषार्थ से भाग्य को बदल सकता है!

५. संघ-धर्म

धर्म-सघ की सुव्यवस्था के लिए महावीर ने सघ के सूत्रो का प्रतिपादन किया—

१. असविभागी को मोक्ष नही मिलता, इसलिए सविभाग करो दूसरो के हिस्से पर अधिकार मत करो।
२. अनाश्रितो को आश्रय देने के लिए तत्पर रहो।
३. नये सदस्यो को शिक्षा देने के लिए तत्पर रहो।
४ रोगी की सेवा के लिए तत्पर रहो।
५. पारस्परिक कलह हो जाने पर किसी का पक्ष लिये विना उसे शान्त करने का प्रयत्न करो।

सामाजिक सगठनो के लिए भी उपयोगिता कम नही है।

६. धर्म का स्वधर्म

१. धर्म सर्वाधिक कल्याणकारी है। किन्तु वही धर्म, जिसका स्वरूप अहिंसा, सयम और तप है।
२. विषय-वासना, धन और सत्ता से जुडा हुआ धर्म सहारक विष की भांति खतरनाक होता है।
३. धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा और हिंसापूर्ण उपासनाए करने वाला अधर्म को प्रोत्साहन देता है।

४. चरित्रहीन व्यक्ति को सम्प्रदाय और वेश त्राण नही देते। धर्म और धर्म-संस्था एक नही है।
५. भाषा का पाडित्य और विद्याओ का अनुशासन मन को शान्त नही करता। मन की शान्ति का एक ही साधन है, वह है धर्म।

निर्वाण

आत्मानुशासन के होने पर ही दूसरे शासन सफल हो जाते है, इस आधार-भित्ति पर महावीर ने जनमानस को धर्म-शासन मे दीक्षित किया। ईस्वी पूर्व ५२७ मे उनका निर्वाण हुआ। निर्वाण से पूर्व भगवान् ने दो दिन का उपवास किया। उस अवधि मे वे धर्म का प्रवचन करते रहे। पर्यंकासन मे बैठे हुए कार्तिक कृष्णा अमावस्या की रात्रि मे उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। मल्ल और लिच्छवि गणतंत्र के शासकगण और जनता ने दीप जलाकर निर्वाण-उत्सव मनाया। ज्योति की स्मृति मे ज्योतिपर्व सस्थापित हो गया।

२

मानवीय एकता

मैंने एक बार पढा, जैन धर्म मे विश्वधर्म होने की क्षमता है। मैंने दूसरी बार पढा, जैन धर्म विश्वधर्म है। मैं चिन्तन के गहरे मे गया। मैंने मन ही मन सोचा—क्या ये विचार सत्य है ? क्या जैन धर्म मे विश्वधर्म होने की क्षमता है ? क्या वह विश्वधर्म है ? मै विश्वधर्म के मानदडो से जैन धर्म को मापने लगा। जिसके अनुयायियो की सख्या विशाल हो वह विश्वधर्म हो सकता है। जैन धर्म के अनुयायियो की सख्या एक करोड से अधिक नही है, फिर वह विश्वधर्म कैसे हो सकता है ? जिसके अनुयायी विश्व के हर कोने मे विद्यमान हो वह विश्वधर्म हो सकता है। जैन धर्म के अनुयायी कुछेक देशो मे विद्यमान है, फिर वह विश्वधर्म कैसे हो सकता है ? जिसके अनुयायी सब जातियो और सब प्रकार के आवश्यक व्यवसाय करने वालो मे हो वह विश्वधर्म हो सकता है, किन्तु जैन धर्म के अधिकाश अनुयायी वैश्य है, फिर वह विश्वधर्म कैसे हो सकता है ? इन मानदडो के आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुचा कि जैन धर्म अपने वर्तमान स्वरूप मे विश्वधर्म नही है। मैं एक चरण पीछे लौटा और मैंने यह देखने का प्रयत्न किया—क्या जैन धर्म मे विश्वधर्म होने की क्षमता है ? मैं यह देखकर स्तभित रह गया कि उसमे विश्वधर्म होने की क्षमता भी नही है। मैं कुछ हताश-सा हो गया। जिस धर्म के प्रति मेरे मन मे ममता है, श्रेष्ठता का सस्कार है, उसे परीक्षा के समय कल्पना की ऊचाई पर नही पा सका, इसलिए हताश होना अस्वाभाविक नही था। मैंने अपने चरण अतीत की अनजानी राहो मे बढाए। मैं खोया-खोया सा चलता चला। एक बिन्दु पर मेरे पैर ठिठक गए। कोई अपरिचित चेहरा मेरे पास आकर मेरे कानो मे गुनगुनाने लगा।

'मनुष्य जाति एक है।' मैंने वह स्वर पहचान लिया। वह स्वर निर्युक्तिकार भद्रबाहु का था। मैंने उनसे पूछा—

'क्या यह सत्य है कि मनुष्य जाति एक है ?

'यह काल्पनिक नही, वास्तविक सत्य है।'

'फिर मनुष्य जाति का विभाजन किसने किया ?'

'मनुष्य ने।'

'क्या यह ईश्वरीय नही है ?'

'यह ईश्वरीय होता तो भारत में ही क्यों होता? क्या ईश्वर भारत की सीमा में प्रतिबद्ध है?'

'इसका आधार क्या है?'

'वैदिक ऋषियों ने सामाजिक संगठन के लिए चार वर्णों की व्यवस्था की। इसका आधार सामाजिक संगठन है।'

'क्या इस व्यवस्था का भारतीय समाज के विकास में कोई योग नहीं है?'

'नहीं क्यों? इस व्यवस्था ने शिक्षण-संस्थानों की अनुपस्थिति में भी कला-कौशल की पैतृक परम्परा को सुरक्षित रखा है, विकसित किया है।'

'फिर महावीर ने मनुष्य जाति की एकता का उद्घोष क्यों किया?'

'जन्मना जाति की व्यवस्था ने मनुष्यों में ऊंच-नीच और छुआछूत की भावना पैदा की, समत्व के सिद्धान्त का विसर्जन किया। उस स्थिति में मनुष्य जाति की एकता का उद्घोष नहीं होता तो अहिंसा अर्थहीन हो जाती।'

मैं आचार्य भद्रबाहु से अपनी जिज्ञासा का समाधान पा रहा था। इतने में मेरे कानों में एक ध्वनि टकराई—मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और कर्म से शूद्र। मैंने दो क्षण उस पर मनन किया। फिर भद्रबाहु से पूछा—'क्या कर्मणा जाति का वाद मनुष्य जाति की एकता के सिद्धान्त का प्रतिवादन नहीं है?'

उन्होंने कहा—'यह तात्त्विक नहीं है। केवल व्यवहार की उपयोगिता है। मनुष्य केवल मनुष्य है। वह विद्याजीवी होता है तब ब्राह्मण हो जाता है। वही व्यक्ति उसी जीवन में रक्षाजीवी होता है तब क्षत्रिय, व्यवसायजीवी होकर वैश्य और सेवाजीवी होकर शूद्र हो सकता है। परिवर्तनशील व्यवस्था मनुष्य-मनुष्य के बीच में ऊंच-नीच और छुआछूत की दीवार खड़ी नहीं करती।'

मैंने विनम्र वंदना कर कृतज्ञता प्रकट की और मैं आगे बढ़ा। आचार्य की देहलीज को पार करते-करते मैं इन्द्रभूति गौतम के पास पहुंचा। वे थे भगवान् महावीर के सबसे प्रथम और सबसे ज्येष्ठ शिष्य—महावीर के सिद्धान्तों के मुख्य प्रवक्ता और सूत्रकार। सूक्ष्म लोक में पहुंचकर मैंने उनसे सम्पर्क स्थापित किया और अपनी जिज्ञासा उनके सामने प्रस्तुत की।

'भंते! आप जाति से ब्राह्मण और वेदों के पारगामी विद्वान् थे। फिर आपने महावीर का शिष्यत्व क्यों स्वीकार किया?'

'धर्म जाति से अतीत है, इसलिए मैं महावीर का शिष्य बना।'

'क्या जैन धर्म जाति नहीं है?'

'नहीं, सर्वथा नहीं। जाति का आधार जो स्थिति है वह व्यवहार है। धर्म का आधार आत्मा का अनुसंधान है। इसलिए सभी आत्माएं और

वर्गों के लोग महावीर के शिष्य बने।'

मैं अतीत के गर्भगृह से वर्तमान के वातायान मे लौट आया। मैंने युगधारा का अवगाहन किया तो पाया कि महावीर की अ-मृत आत्मा युग-चेतना की पार्श्वभूमि मे आज भी विद्यमान है। उनकी वाणी की प्रतिध्वनि आज भी अनन्त के कण-कण मे हो रही है। उनके सिद्वान्त आज भी सर्व व्यापी हैं।

महावीर ने सापेक्षवाद से विश्व की व्यवस्था की। उन्होंने कहा, एकता और अनेकता की धारा एक साथ प्रवाहित है इस सह-अस्तित्व के प्रवाह मे 'या तुम या मैं' के लिए कोई स्थान नही है तुम्हारे विना मैं और मेरे विना तुम नही हो सकते। तुम और मैं एक साथ ही हो सकते है। सघर्ष वास्तविक नही है। घृणा वास्तविक नही है। वास्तविक है सहयोग, वास्तविक है समन्वय--अपने अस्तित्व के साथ दूसरो के अस्तित्व की स्वीकृति, अपने व्यक्तित्व की स्वीकृति।

'मानवीय एकता' की स्वीकृति के साथ मानवीय अनेकता की स्वीकृति जुटी है। 'सव मनुष्य एक हैं'—यह सापेक्ष सिद्वान्त है। सापेक्ष एकता अनेकता के विना नही हो सकती। मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रकृति और और व्यवस्था-कृत अनेकताए भी है। उनके आधार पर एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से भिन्न है। यह मानवीय एकता और अनेकता की तथ्यात्मक स्वीकृति है।

महावीर ने उक्त सिद्वात का धर्म के दृष्टिकोण मे प्रतिपादन किया। उन्होने कहा—मनुष्य जाति मे एकता अनेकता—दोनो के तत्त्व विद्यमान् हैं और दोनो वास्तविक हैं। इसलिए ये धर्म की आधार नही वन सकती। यदि एकता के आधार पर हम मनुष्य जाति से प्रेम करें तो अनेकता के आधार पर द्वेष कैसे नही करेगे ? हम अनेकता को इसलिए द्वेष का आधार वनाते है कि एकता के आधार पर हम प्रेम करते हैं। इस द्वन्द्व के आधार पर होने वाला प्रेम धार्मिक का प्रेम नही होता। एकता और अनेकता के द्वन्द्व से परे जो द्वन्द्वातीत आत्मा की अनुभूति है वह धर्म है। इस धार्मिक दृष्टिकोण से मानवीय एकता का अर्थ होगा—मनुष्य-मनुष्य के वीच घृणा और सघर्ष की समाप्ति।

महावीर ने धर्म की दृष्टि मे मानवीय एकता की व्याख्या की, उसमें सम्प्रदाय को स्थान नही दिया। उसके मतानुसार कौन व्यक्ति किस सम्प्रदाय मे दीक्षित है, उसे मूल्य नहीं दिया जा सकता। मूल्य इसका होगा कि कौन व्यक्ति कितना ऋजु, कितना पवित्र और कितना कषायमुक्त है। जैन धर्म मे दीक्षित होने वाला मुक्त नहीं भी हो सकता और अन्य धर्म मे दीक्षित होने वाला मुक्त हो सकता है इसका प्रतिपादन कर

व्यक्ति और समाज

व्यक्ति और समाज—ये दो वास्तविकताए हैं। व्यक्तिवादी दार्शनिको का सिद्धात यह है—'मनुष्य समाज से बाहर का मानव प्राणी है अथवा रह सकता है।' इस मान्यता मे यह विचार निहित है कि मनुष्य समाज मे प्रवेश करने के पूर्व व्यक्ति विशेप हैं। वे अपनी सपत्ति, अधिकार, जीवन की सुरक्षा अथवा अन्य किसी इच्छित उद्देश्य की पूर्ति के लिए सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करते हैं।

समाजवादी दार्शनिको का सिद्धान्त यह हे—व्यक्ति और समाज को एक-दूसरे से पृथक नही किया जा सकता। मानव-विकास के इतिहास मे व्यक्ति और समाज दोनो का समान रूप से प्राधान्य है।

अनेकान्तवाद व्यक्ति और समाज की सापेक्ष व्याख्या करता हे। व्यक्ति मे वैयक्तिकता ओर सामाजिकता दोनो के मूल तत्त्व सन्निहित होते है। क्षमताओ का होना व्यक्ति की वैयक्तिकता है उनका अभिव्यक्त होना व्यक्ति की सामाजिकता हे। इसलिए व्यक्ति और समाज भिन्न-भिन्न हे। व्यक्ति की वैयक्तिकता कभी खडित नही होती। उसका कभी विनिमय नहीं होता। व्यक्ति समाज का अभिन्न अग बनकर भी व्यक्ति ही रहता है। इस अर्थ मे व्यक्ति समाज से भिन्न भी हे। व्यक्ति अपनी आकाक्षा, अपेक्षा और कर्म का विस्तार करता है, विनिमय और परस्परता का सम्वन्ध स्थापित करता है, इस अर्थ मे वह समाज से अभिन्न भी हे। व्यक्ति की सीमा सवेदन है। एक व्यक्ति को प्रेम, हर्प, भय और शोक का सवेदन होता है, वह नितान्त वैयक्तिक है। वह सवेदन साधारण नही हे। उसका विनिमय नहीं होता। वह दूसरो को दिया नही जा सकता। विनिमय व्यक्ति और समाज के बीच का सेतु है। उसके इस ओर व्यक्ति है और उस ओर समाज। व्यक्ति का मूल आधार है सवेदन और समाज का मूल आधार है विनिमय। वस्तु सामाजिक है, क्योकि उसका विनिमय किया जा सकता है। सवेदन वैयक्तिक है, क्योकि उसका विनिमय नही किया जा सकता।

समाजशास्त्री मेकाइवर के अनुसार 'समाज सामाजिक सम्वन्धो का जाल है।' 'समाज सामाजिक सम्वन्धो की एक पद्धति है, जिसके द्वारा हम जीते हे। 'समाजशास्त्री ग्रीन के अनुसार 'समाज एक बड़ा समूह है जिससे

महावीर ने धर्म का सम्प्रदायातीत और भेदातीत स्वरूप जनता के सामने प्रस्तुत किया।

धर्म आत्मा की आन्तरिक पवित्रता है, इसलिए उसका किसी जाति वर्ग और सम्प्रदाय से सम्बन्ध नही हो सकता . किन्तु धर्म का बाहरी रूप सम्प्रदाय मे प्रकट होता है, इसलिए वह जाति और वर्ग से भी जुड़ जाता है महावीर ने अपने धर्म-शासन का द्वार सब जातियो और सब वर्गो के लिए खुला रखा था। उन्होने कल्पना ही नही की होगी कि उनका धर्म-शासन किसी एक जाति या वर्ग से जुडकर दूसरो के लिए द्वार बन्द कर देगा। किन्तु काल की गति ने ऐसा घटनाचक्र प्रस्तुत किया कि महावीर का मानवीय एकता का पक्षधर धर्म-शासन मानवीय अनेकता का पक्षधर हो गया। हम महावीर के मानवीय एकता के सिद्धान्त को विश्व के सामने प्रस्तुत कर सकते है । किन्तु महावीर के आधुनिक धर्म-शासन को मानवीय एकता के पक्षधर के रूप मे प्रस्तुत नही कर सकते।

अपरिग्रह मानवीय एकता का महान् सिद्धान्त है। इसे विश्व के सामने प्रस्तुत किया जा सकता है, किन्तु जैन समाज को इसके उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत नही किया जा सकता।

अनेकान्त मानवीय एकता का महान् सिद्धान्त है। इसे जागतिक समस्याओ के समाधान के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है। किन्तु आधुनिक जैन शासन को सापेक्षता और समन्वय के महान् प्रयोगकार घटक के रूप मे प्रस्तुत नही किया जा सकता।

सिद्धान्त और व्यवहार के इस अन्तर्विरोध को देखकर प्रश्न होता है—क्या ये सिद्धात केवल मनोग्राही और बुद्धिग्राही है या व्यावहारिक भी है ? यदि ये व्यावहारिक नही है तो इनको प्रस्तुत करने से क्या लाभ ? यदि ये व्यावहारिक है तो जैन शासन इनके व्यवहार से वचित क्यो ? काल-चक्र की घटनाओ ने जैन शासन को इतना प्रभावित किया वह महावीर के मौलिक सिद्धान्तो की प्रयोग-भूमि नही रह सका। आज उस जैन शासन की अपेक्षा है जो महावीर के महान् सिद्धान्तो का प्रतिनिधि हो, जिसे महावीर के धर्म-शासन का उत्तराधिकार प्राप्त हो सके। इसकी अर्हता विश्व का कोई भी अंचल प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से मै मान सकता हू कि जैन धर्म विश्व धर्म है।

हर व्यक्ति संबद्ध है। इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सम्बन्ध स्थापित होता है और जीने के लिए हर व्यक्ति के लिए सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है। संवेदन न स्थापित होता है और न वह जीने के लिए आधारभूत है। वह स्वाभाविक है। संवेदना की अपेक्षा से व्यक्ति वास्तविक है और जीवन-यापन की अपेक्षा से समाज वास्तविक है। इन दोनो की वास्तविकता मे कोई विरोध नही है। व्यक्ति समाज को वास्तविक मानकर ही सुखपूर्वक जी सकता है और समाज की वास्तविकता को ध्यान मे रखकर सामाजिक मूल्यो की सुरक्षा कर सकता है।

समाज-व्यवस्था के आधारभूत तत्त्व दो हैं—काम और अर्थ। काम की सम्पूर्ति के लिए सामाजिक सम्बन्धो का विस्तार होता है। अर्थ काम-सपूर्ति का साधन बनता है। धर्म (विधि-विधान) के द्वारा समाज की व्यवस्था का सचालन होता है। प्राचीन समाजशास्त्रियो मे से कुछेक ने काम को मुख्य माना और कुछेक ने धर्म को। महामात्य कौटिल्य ने अर्थ को मुख्य माना। उन्होने कहा—काम और धर्म का मूल अर्थ है। इसलिए इस त्रिवर्ग मे अर्थ ही प्रधान है। आधुनिक समाजवादी समाज-व्यवस्था मे भी अर्थ की प्रधानता है। वह अर्थ पर ही आधारित है। अर्थाधारित समाज-व्यवस्था मे व्यक्ति का स्वतन्त्र मूल्य नही हो सकता। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को नियत्रित किए बिना समाजवादी व्यवस्था फलित नही हो सकती। व्यक्ति अपने सवेदनो को जितना मूल्य देता है, उतना दूसरो के सवेदनो को नही देता। इसलिए व्यक्तिवादी समाज-व्यवस्था मे दो स्थितियां निर्मित हुई—स्वार्थ की अपेक्षा और परार्थ की अपेक्षा। फलतः उस व्यवस्था मे अप्रामाणिकता, अनैतिकता, शोषण और भ्रष्टाचार जैसी बुराइयां पनपी। इन बुराइयो से संत्रस्त समाज ने समाजवादी व्यवस्था के द्वारा स्वार्थ और परार्थ की खाई को पाटने का प्रयत्न किया। व्यक्ति को व्यक्तिवादी समाज-व्यवस्था जितना स्वतन्त्र मूल्य दिए जाने पर उस खाई को पाटा नही जा सकता। इसलिए इस व्यवस्था मे व्यक्ति को समाज के एक पुर्जे का स्थान देना पड़ा।

व्यक्तिवादी समाज-व्यवस्था मे सामाजिक विषमता फलित होती है। उसमे कुछ लोग सम्पन्न होते है और जन-साधारण विपन्न रहता है। सम्पन्न लोग भोग-विलास मे आसक्त रहते है। वे अपनी सुख-सुविधा की ही चिन्ता करते है, दूसरो के हितो की चिन्ता नही करते। उनकी इन्द्रियपरक आवश्यकताएं बढ जाती हैं। वे भोग से हटकर अन्य विषयों पर विचार के लिए समय ही नही निकाल पाते। विपन्न लोगो को इन्द्रियपरक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अत्यन्त श्रम करना होता है। उन्हें विचार का अवसर ही नही मिलता। इस इन्द्रियपरक समाज-रचना मे सामाजिक विषमता चलती

रहती है। राजतन्त्र का इतिहास इस बात का साक्षी है विचारपरक समाज-रचना का श्रीगणेश उन लोगो ने किया जो भोग मे लिप्त नही थे। उस विचारपरक समाज-रचना ने ही समाजवादी समाज-व्यवस्था को जन्म दिया। महावीर ने न समाज की व्यवस्था की और न समाज व्यवस्था का दर्शन दिया। उन्होने धर्म की व्याख्या की और धर्म का दर्शन दिया। वह धर्म-दर्शन न व्यक्तिवादी है और न समाजवादी। वह आत्मवादी है। व्यक्ति का मानदण्ड सवेदन है और समाज का मानदण्ड विनिमय। धर्म का मानदण्ड इन दोनो से भिन्न है। उसका मानदण्ड सवेदनातीत चेतना और अकर्म है।

जैन दर्शन समाज-व्यवस्था का सूत्र नही देता, काम और अर्थ का दिशा-निर्देश नही देता, जीवन की समग्रता का दर्शन नही देता, इसलिए वह अपूर्ण है। यह तर्क उपस्थित किया है और यह तथ्य से परे भी नही है। जैन दर्शन मे मोक्ष की मीमासा प्रधान है। मोक्षवादी दर्शन का मुख्य कार्य धर्म की मीमासा करना होता है। इस सन्दर्भ मे धर्म का अर्थ भी बदल जाता है। काम और अर्थ के सन्दर्भ मे धर्म का अर्थ समाज-व्यवस्था के सचालन का विधि-विधान होता है। मोक्ष के सन्दर्भ मे उसका अर्थ होता है—चेतना का शोधन। महावीर ने जितने निर्देश दिए वे सब चेतना की शुद्धि के लिए दिए। उन निर्देशो से अर्थ और काम प्रभावित होते है, स्वार्थ पर नियंत्रण और समाजवादी समाज-व्यवस्था को आधार प्राप्त होता है, किन्तु इनके लिए महावीर ने कुछ किया, ऐसा नही कहा जा सकता। क्या मोक्षवादी दर्शन ऐसा कर सकता है?

हिंसा और परिग्रह को सर्वथा समाज-व्यवस्था मे से पृथक् नही किया जा सकता। मोक्ष-धर्म का मौलिक आधार है—अहिंसा और अपरिग्रह। अत. समाज-व्यवस्था और मोक्ष-धर्म को एक आधार नही दिया जा सकता। मोक्ष-धर्म समाज व्यवस्था को हिंसा और परिग्रह के अल्पीकरण का दिशा-निर्देश देता है। यह समाजवादी समाज-व्यवस्था के हित-पक्ष मे है, इसलिए इस बिन्दु पर इन दोनो का मिलन हो सकता है। किन्तु दोनो का मौलिक आधार एक नही है।

व्यक्तिवादी समाज-व्यवस्था स्वार्थ-शासित थी, इसलिए उसमे व्यक्तिगत सग्रह पर कोई अकुश नही था। व्यक्तिगत स्वतत्रता के साथ क्रूरता के लिए भी पूरा अवकाश था। समाजवादी समाज-व्यवस्था राज्य-सत्ता से शासित है, इसलिए इसमे सम्पत्ति पर समाज का प्रभुत्व है। इसमे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है। मोक्ष-धर्म से प्रभावित समाज-व्यवस्था करुणा-शासित होती है। इसमे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सग्रह पर अकुश—दोनो फलित हो सकते है। किन्तु इनके लिए सामाजिक चरित्र को और

अधिक उदात्त करने की अपेक्षा है।

क्या अनेकान्त के द्वारा समाज-व्यवस्था और मोक्ष-धर्म की एकता स्थापित नहीं की जा सकती ? क्या हिंसा और अहिंसा, परिग्रह और अपरिग्रह मे अविरोध स्थापित नहीं किया जा सकता ? अनेकान्तवादी समन्वय और सापेक्षता के द्वारा विरोध मे अविरोध की व्याख्या करता है, इसलिए यह प्रश्न होना स्वभाविक है। किन्तु हम इस तत्त्व की उपेक्षा कर अनेकान्त को नहीं समझ सकते कि जिस गुण की अपेक्षा से विरोध होता है, उसी गुण की अपेक्षा से अविरोध नहीं होता। पदार्थ मे नित्य और अनित्य—दोनो गुण अविरोधी हैं। किन्तु जिस गुण की अपेक्षा पदार्थ नित्य है, उसी गुण की अपेक्षा वह अनित्य नहीं है और जिस गुण की अपेक्षा वह अनित्य है, उसी गुण की अपेक्षा वह नित्य नहीं है। किन्तु नित्य और अनित्य—दोनो गुण एक ही पदार्थ मे अविरोधी भाव से रहते है। इसीलिए पदार्थ नित्यानित्यात्मक होता है और उस पदार्थ की सापेक्ष-दृष्टि से सामंजस्यपूर्ण व्याख्या की जा सकती है। समाज-व्यवस्था मे हिंसा और अहिंसा, परिग्रह और अपरिग्रह—दोनो तत्त्व अविरोधभाव से रहते हैं। अनेकान्त के द्वारा समाज-व्यवस्था और मोक्ष-धर्म की एकता स्थापित नहीं की जा सकती। हिंसा और अहिंसा तथा परिग्रह और अपरिग्रह मे अविरोध स्थापित नहीं किया जा सकता किन्तु समाज-व्यवस्था के साथ उनके सहावस्थान की व्याख्या की जा सकती है। हिंसा और परिग्रह को समाज-व्यवस्था से पृथक् नहीं किया जा सकता, इस अपेक्षा से समाज व्यवस्था और मोक्ष-धर्म मे एकता नहीं है। समाज-व्यवस्था मे हिंसा और परिग्रह की अल्पता की जा सकती है, इस अपेक्षा से समाज-व्यवस्था और मोक्ष-धर्म मे एकता है।

धर्म संवेदनातीत होने के कारण वैयक्तिक नहीं है, आत्मिक है। किन्तु वह व्यक्ति का अपना गुण है, इस अपेक्षा से वह वैयक्तिक भी है। नैतिकता व्यक्ति का अपना गुण है, इस अपेक्षा से वह वैयक्तिक है, किन्तु वह दूसरे के प्रति होती है, इसलिए सामाजिक भी है। वह सामाजिक है किन्तु सामाजिक आचार-संहिता से अभिन्न नहीं है। समाज की आचार-संहिता देश-काल के भेद से भिन्न-भिन्न, परिवर्तनशील और समाज की उपयोगिता के आधार पर निर्मित होती है। नैतिकता देश और काल की धारा मे एकरूप, अपरिवर्तनशील और धर्म से प्रभावित होती है। धर्म और नैतिकता को शाश्वत सत्य की श्रेणी मे रखा जा सकता है, समाज की आचार-संहिता को उस श्रेणी मे नहीं रखा जा सकता। वे दोनों व्यक्ति की आन्तरिक अवस्थाएं हैं। समाज की आचार-संहिता समाज की बाहरी नियमन है। यह शुद्ध अर्थ मे सामाजिक है। नैतिकता उद्गम में वैयक्तिक और व्यवहार

मे सामाजिक है। धर्म शुद्ध अर्थ मे आत्मिक और व्यवहार मे वैयक्तिक है।

त्रिवर्ग मे अर्थ और काम के साथ जिस धर्म का उल्लेख है वह सामाजिक आचारसहिता ही है। इसलिए महावीर ने काम, अर्थ और धर्म को लौकिक व्यवसाय कहा है। स्मृतियो मे इसी धर्म की व्याख्या अधिक मात्रा मे हुई है। सहस्राब्दियो से भारत की बहुसख्यक जनता ने इसी को शाश्वत सत्य के रूप मे स्वीकार किया है। इसी के आधार पर उसमे अनेक अवाछनीय तत्त्व विकसित हुए, जिनका आज के समाजशास्त्री धर्म की इन कुसेवा के रूप मे वर्णन करते हैं—

१. रूढिवादिता—धर्म ने रूढिवादिता को जन्म दिया। उसके नाम पर जनता परम्परा और रीति-रिवाज को तोडने का साहस नही कर सकी।

२. शोषण—धर्म के नाम पर स्त्रियो का अत्यधिक शोषण होता रहा है। कर्मवाद के सिद्धान्त ने गरीबो को शोषण के विरुद्ध क्रान्ति करने से रोका है।

३. आलस्य और भाग्यवादिता—धर्म ने भाग्यवाद को प्रचारित किया। फलतः जनता आलसी और अकर्मण्य हो गई।

४ हिंसा और युद्ध—मानव इतिहास के पृष्ठ धर्म के नाम पर किए गए नर-सहार और जिहादो से भरे पडे है।

५. घृणा —समाज मे जातीय भेदभाव, घृणा और छुआछूत के लिए धर्म उत्तरदायी है।

समाजशास्त्रीय साहित्य मे धर्म और नैतिकता का अन्तर इस आधार पर प्रतिपादित किया गया है कि कुछ बातें नैतिकता की दृष्टी मे गलत किन्तु धर्म की दृष्टि से सही होती है। कभी-कभी धर्म समाजहित के विरोधी आचरण का विधान करता है। धर्म ने छुआछूत का विधान किया। नैतिकता की दृष्टि से यह गलत है। एक पत्नी अपने क्रूर और दुष्ट पति को नही छोड सकती—धर्म की दृष्टि से यह सही है किन्तु नैतिकता की दृष्टि से गलत है। सचाई यह है कि नैतिकता मनुष्य को आगे ले जाती है और धर्म मनुष्य के विकास को अवरुद्ध कर देता है।

इस समूची समाजशास्त्रीय समालोचना का आधार वह स्मृतियो मे प्रतिपादित धर्म या त्रिवर्ग का धर्म है। जैन, बौद्ध, सांख्य और वेदान्त ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया है उसके विषय मे इस प्रकार की समालोचना नही की जा सकती। इनके द्वारा प्रतिपादित धर्म शाश्वत सत्य की व्याख्या है। उसका परिवर्तनशील समाज-व्यवस्था मे कोई हस्तक्षेप नहीं है। धर्म के नाम पर समाज-व्यवस्था का प्रतिपादन नही किया जा सकता। परिवर्तनशील तत्त्व को अपरिवर्तनशील तत्त्व के नाम से प्रचारित करने पर रूढिवादिता

पैदा होती है । स्मृतिकारो ने परिवर्तनशील समाज-व्यवस्था का विधान किया । यदि उसका प्रस्तुतीकरण शाश्वत सत्य के रूप मे नही होता तो धर्म का रूढिवादी रूप हमारे सामने नही होता । स्त्रियो की हीनता का प्रतिपादन भी स्मार्त धर्म की समाज-व्यवस्था का अग है । शाश्वत धर्म से उसका कोई सम्बन्ध नही है ।

महावीर ने कर्मवाद की सबसे अधिक व्याख्या की है । उनका कर्मवाद इस बात का समर्थन नही करता कि गरीब-गरीब ही रहेगा और उसे अपना कर्मफल भोगने के लिए अमीरो के द्वारा किए गए शोषण को सहन करना पडेगा । गरीबी और अमीरी सामाजिक अवस्थाए है । इनका सम्बन्ध समाज की व्यवस्था से है, कर्मवाद से नही है ।

महावीर ने पुरुषार्थ का प्रतिपादन किया । उनके धर्म मे आलस्य और अकर्मण्यता को कोई स्थान नही है । पुरुषार्थ के द्वारा कर्म के परिणामो मे भारी परिवर्तन किया जा सकता है ।

महावीर ने अहिंसा को सर्वोच्च धार्मिक मूल्य दिया । उनका सूत्र है—अहिंसा धर्म है, धर्म के लिए हिंसा नही की जा सकती । धर्म की रक्षा अहिंसा से होती है, धर्म की रक्षा के लिए हिंसा नही की जा सकती ।

महावीर ने घोषणा की—मनुष्य जाति एक है । जातीय भेदभाव, घृणा और छुआछूत—ये हिंसा के तत्त्व है । अहिंसा धर्म मे इनके लिए कोई अवकाश नही है ।

महावीर ने धर्म के तीन लक्षण बतलाए—अहिंसा, सयम और तप । ये तीनो आत्मिक और वैयक्तिक है । इनसे फलित होने वाला चरित्र नैतिक होता है । राग-द्वेषमुक्त चेतना अहिंसा है । यह धर्म का आध्यात्मिक स्वरूप है । जीव की हिंसा नही करना, झूठ नही बोलना, चोरी नही करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, परिग्रह नही रखना—यह धर्म का नैतिक स्वरूप है । राग-द्वेष-मुक्त चेतना आत्मिक स्वरूप ही है । वह किसी दूसरे के प्रति नही है और उसका सम्बन्ध किसी दूसरे से नही है । जीव की हिंसा नही करना—यह दूसरो के प्रति आचरण है । इसलिए यह नैतिक है । नैतिक नियम धर्म के आध्यात्मिक स्वरूप से ही फलित होता है । इसका उद्गम धर्म का आध्यात्मिक स्वरूप ही है । इसलिए यह धर्म से भिन्न नही हो सकता । हर्बर्ट स्पेन्सर और थॉमस हक्सले तथा आधुनिक प्रकृतिवादी और मानवतावादी चितको ने धर्म और नैतिकता को पृथक् स्थापित किया है । यह सगत नही है । जो आचारण धर्म की दृष्टि से सही है, वह नैतिकता की दृष्टि से गलत नही हो सकता । धर्म अपने मे और नैतिकता दूसरो के प्रति—इन दोनो मे यही अन्तर है । किन्तु इनमे इतनी दूरी नही है, जिससे एक ही आचरण को धर्म का समर्थन और नैतिकता का विरोध प्राप्त हो ।

समाजशास्त्रियो ने धर्म और नैतिकता के भेद का निष्कर्ष स्मृति-धर्म के आधार पर निकाला। उस धर्म को सामने रखकर धर्म और नैतिकता में दूरी प्रदर्शित की जा सकती है, धर्म के द्वारा समर्थित आचरण को नैतिकता का विरोध प्राप्त हो सकता है। वह धर्म रूढिवाद का समर्थक होकर समाज की गतिशीलता का अवरोध बन सकता है।

धर्म का आध्यात्मिक स्वरूप आत्म-केन्द्रित और उसका नैतिक स्वरूप समाजव्यापी है। इस प्रकार धर्म दो आयामो में फैला हुआ है। इस धर्म के दोनो रूप शाश्वत सत्य पर आधारित होने के कारण अपरिवर्तनीय हैं। स्मृति-धर्म (समाज की आचार-सहिता) देशकाल की उपयोगता पर आधारित है। इसलिए यह परिवर्तनशील है। इस परिवर्तनशील धर्म की अपरिवर्तनशील धर्म के रूप मे स्थापना और स्वीकृति होने के कारण ही धर्म के नाम पर समाज मे वे बुराइया उत्पन्न हुईं जिनकी चर्चा समाजशास्त्रियो ने की है।

स्मृति-धर्म ने अर्थ के अर्जन और भोग का दिशा-निर्देश दिया है, काम-सेवन की दिशाए भी प्रदर्शित की है। यह दिशा-निर्देश करना स्मृति-धर्म का ही नाम है। शाश्वत धर्म का यह काम नही है। उसके द्वारा यदि काम और अर्थ की परिवर्तनशील व्यवस्था का दिशा-निर्देश हो तो वह शाश्वत का रूप लेकर समाज की भावी व्यवस्थाओ मे गतिरोध पैदा कर देता है, जैसा कि आज हो रहा है। स्मृति-धर्म द्वारा प्रतिपादित काम और अर्थ की व्यवस्था मे शाश्वत धर्म का सहयोग हो सकता है। महावीर ने यह सहयोग किया था। उन्होने गृहस्थो की धर्म-सहिता (या नैतिक सहिता) मे जो नियम निश्चित किए, उनसे समाज-व्यवस्था को भी बहुत सहारा मिला। उदाहरण-स्वरूप इन नियमो का निर्देश किया जा सकता है—

१. अपने कर्मकरो की आजीविका का विच्छेद न करना।
२ पशुओ पर अधिक भार न लादना।
३. झूठी साक्षी न देना।
४. अपनी विवाहित स्त्री के अतिरिक्त किसी के साथ अब्रह्मचर्य का सेवन न करना।
५. सग्रह की एक निश्चित सीमा करना। उस सीमा से अतिरिक्त सग्रह न करना।
६. धन-संग्रह और भोगवृद्धि के लिए दूसरे देशो मे न जाना, आदि-आदि।

महावीर ने अर्थार्जन और काम-सेवन मे होने वाली आसक्ति को कम करने का विधान किया। किन्तु उनके उपभोग का विधान नही किया। उन्होने धर्माचार्य की सीमा का काम किया, किन्तु समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री

और कामशास्त्री की सीमा का काम नही किया। इस अर्थ में यदि कोई उनके दर्शन को अपूर्ण माने तो माना जा सकता है। उनके अनुयायी को दूसरी व्यवस्थाओं पर निर्भर होना पडता है—यदि कोई यह आरोप लगाए तो लगाया जा सकता है। शाश्वत धर्म की यह अपूर्णता और पर-निर्भरता न हो तो स्मृति-धर्म शाश्वत धर्म के स्वरूप को ही धुंधला कर देगा। पूर्णता और आत्म-निर्भरता सापेक्ष ही हो सकती है। धर्म और नैतिकता की अपेक्षा से व्यक्ति वास्तविक हो सकता है, किन्तु अर्थ और काम की अपेक्षा से वह वास्तविक नही है। अर्थ और काम की अपेक्षा से समाज वास्तविक हो सकता है। किन्तु धर्म और नैतिकता की अपेक्षा से वह वास्ततिक नही है। व्यक्ति वास्तविक और समाज अवास्तविक—व्यक्तिवादी दार्शनिको की इस स्वीकृति ने व्यक्ति को अर्थ-संग्रह की असीमित स्वतन्त्रता देकर शोषण की समस्या को जन्म दिया। समाज वास्तविक और व्यक्ति अवास्तविक—समाजवादी दार्शनिको की इस स्वीकृति ने व्यक्ति की वैचारिक स्वतन्त्रता को राज्य-प्रतिवद्ध कर मानव के यंत्रीकरण की समस्या को जन्म दिया। व्यक्ति और समाज की सापेक्ष वास्तविकता की स्वीकृति ही इन समस्याओ से समाज को मुक्ति दे सकती है।

४

धर्म से आजीविका : इच्छा-परिणाम

भगवान् महावीर ने कहा—'इच्छा आकाश के समान अनन्त है।' यह धार्मिक दृष्टि से जितना सत्य है उतना ही अर्थशास्त्रीय दृष्टि से सत्य है। अर्थशास्त्र के अनुसार माग से आवश्यकता[1] का क्षेत्र बडा होता है। इच्छा[2] का क्षेत्र उससे भी बडा होता है। सभी इच्छाएं आवश्यताए नही हो सकती, जब कि सभी आवश्यकताए इच्छाए अवश्य होती हैं। इच्छा से आवश्यकता का क्षेत्र सकुचित और माग का क्षेत्र उससे भी सकुचित होता है।



इच्छा नैसर्गिक होती है आवश्यकताए भौगोलिक परिस्थिति, सामाजिक रीति-रिवाज, शारीरिक अपेक्षा, आर्थिक परिस्थिति और धार्मिक भावना के द्वारा निर्धारित होती है।

१. आवश्यकता—आवश्यकता मनुष्य की उस इच्छा को कहते है जिसको पूरा करने के लिए उसके पास पर्याप्त धन हो और साथ ही वह मनुष्य उस धन को खर्च करने के लिए तैयार भी हो।

२ माग—माग उस आवश्यकता को कहते हैं जिसकी संतुष्टि की जा चुकी है।

१. आर्थिक परिस्थिति द्वारा आवश्यकता का निर्धारण—

गरीब व्यक्ति की आवश्यकताएं सीमित तथा सादी होती हैं। वह केवल जीवन-रक्षक आवश्यकताओ को ही पूर्ण कर पाता है। धनी व्यक्ति की आवश्कताएं उससे बहुत अधिक होती है वह केवल जीवन-रक्षक आवश्यकताओ को ही पूर्ण नही करता, विलासितायुक्त आवयश्यकताओ को भी पूर्ण करता है।

२. धार्मिक भावना के द्वारा आवश्यकता का निर्धारण—

धार्मिक व्यक्ति की आवश्यकताए नैतिक दृष्टि से प्रभाविक होती है। वह जिन नैतिक आदर्शो को मानता है उन्ही के आधार पर अपनी आवश्यकताओ का निर्माण करता है। उसकी आवश्यकताएं बहुत कम और सादा होती हैं। किन्तु भौतिक मनोवृत्ति रखने वाले व्यक्ति की आवश्यकताए उसकी तुलना मे बहुत अधिक और बहुत प्रकार की होती हैं।

आवश्यकता का गढ़ा इतना गहरा है कि उसे कभी भरा नही जा सकता। इस सत्य की स्वीकृति धर्म शास्त्र और अर्थशास्त्र—दोनो ने की है। भगवान् महावीर ने कहा—'लाभ से लोभ बढता है जैसे-जैसे लाभ होता है वैसे-वैसे लोभ बढ़ता जाता है।' एक आवश्यकता पूर्ण होती है तो दूसरी नई आवश्यकता जन्म ले लेती है। आवश्यकता की इस विशेषता के आधार पर अशांति का नियम निश्चित किया गया। आवश्यकता की असीमितता के कारण मनुष्य की शान्ति भंग होती है। अर्थशास्त्र मे भी आवश्यकता की अपूरणीयता प्रतिपादित है। डॉ० मार्शल ने लिखा है—'मनुष्य की आवश्यकताएं और इच्छाएं असख्य और अनेक प्रकार की होती हैं।'[१] यदि मनुष्य एक आवश्यकता को पूर्ण करता है तो दूसरी नई आवश्यकता सामने खडी हो जाती है। जीवन-पर्यन्त अपनी सभी आवश्यकतओ की पूर्ति नही कर सकता। अर्थशास्त्रियों ने आवश्यकता की इस विशेषता के आधार पर 'प्रगति का नियम' (Law of Progress) स्थापित किया। उनका मत है कि असीमित आवश्यकताओं के कारण ही नये-नये आविष्कार होते हैं। फलस्वरूप समाज की आर्थिक प्रगति होती है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है और सामाजिक जीवन का मुख्य आधार अर्थ है। इस दृष्टिकोण से आर्थिक प्रगति बहुत आवश्यक है। आवश्यकताओ के सीमित होने पर आर्थिक प्रगति को प्रोत्साहन नही मिलता। इसलिए आर्थिक विकास की दृष्टि से आवश्यकताओ का विस्तार जरूरी है। इसी वस्तु-सत्य को ध्यान मे रखकर एक प्राचीन अर्थशास्त्री ने कहा था—'असतुष्ट संन्यासी नष्ट हो जाता है और संतुष्ट राजा नष्ट हो जाता है।' संन्यासी के लिए

---

१. Principles of Economics p. 73

आवश्यकताओ को कम करना गुण है और उनका विस्तार करना दोष है। सामाजिक व्यक्ति के लिए आवश्यकताओ को कम करना दोष है और उनका विस्तार करना गुण है।

'मनुष्य सामाजिक प्राणी है'—इस वास्तविकता के सदर्भ मे अर्थशास्त्र का आवश्यकताओ को असीमित करने का दृष्टिकोण गलत नही है। किन्तु मनुष्य क्या केवल सामाजिक प्राणी ही है? क्या वह व्यक्ति नही है? क्या उसमे सुख-दु.ख का सवेदन नही है? क्या असीमित आवश्यकताओ का दबाव उसमे शारीरिक और मानसिक तनाव पैदा नही करता? क्या आवश्यकता के विस्तार के पीछे खडा हुआ इच्छा का दैत्य शारीरिक ग्रंथियो के स्राव को अस्त-व्यस्त और मानसिक विक्षोभ उत्पन्न नही कर देता? इन समस्याओ की ओर ध्यान न देकर ही हम आवश्यकताओ के विस्तार का ऐकान्तिक समर्थन कर सकते हैं। किन्तु जब मनुष्य को मानवीय पहलू से देखते हैं तब हम इच्छाओ की असीमितता का समर्थन नही कर सकते। इस मानवीय और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से इच्छाओ को सीमित करना जरूरी है।'

अर्थशास्त्रीय और धार्मिक—ये दोनो दृष्टिकोण अपने-अपने विषयक्षेत्र की दृष्टि मे ही सत्य है। धर्मशास्त्र कहता है—'आवश्यकता को कम करो।' तब हमे इस सत्य की ओर से आखें नही मूद लेनी चाहिए कि यह प्रतिपादन मानसिक अशान्ति की समस्या को सामने रखकर किया गया है। अर्थशास्त्र कहता है—'आवश्यकताओ का विस्तार करो।' तब हमे इस वास्तविकता से आंखें नही मूद लेनी चाहिए कि इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मनुष्य की सुख-सुविधा के विकास को ध्यान मे रखकर किया गया है। महावीर ने सामाजिक व्यक्ति के लिए अपरिग्रह की बात नही कही। वह मुनि के लिए सभव है। सामाजिक प्राणी के लिए उन्होंने, इच्छा-परिमाण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। सामाजिक मनुष्य इच्छाओ और आवश्यकताओ को समाप्त कर जीवन को नही चला सकता और उनका विस्तार कर शान्तिपूर्ण जीवन नहीं जी सकता। इसलिए उन्होंने दोनो के मध्यवर्ती सिद्धान्त (इच्छा-परिमाण) का प्रतिपादन किया।

जीवन के प्रति धर्मशास्त्र का जो दृष्टिकोण है उससे अर्थशास्त्र का दृष्टिकोण मौलिक रूप से भिन्न है। धर्मशास्त्र जीवन की व्याख्या आन्तरिक चेतना के विकास के पहलू से करता है। अर्थशास्त्र जीवन की व्याख्या आर्थिक क्रियाओ के माध्यम से करता है। दोनो व्याख्याओ की पृष्ठभूमि और दृष्टि-कोण एक नही है। इसलिए धर्मशास्त्र अर्थशास्त्र और अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र का समर्थन नही करता। किन्तु धर्म और धन—दोनो का सामाजिक जीवन से सम्बन्ध होता है, इसलिए जीवन के कुछ विन्दुओ पर उनका सगम होता है

वे एक-दूसरे को प्रभावित भी करते है। भगवान् महावीर ने कहा-- इच्छाओ को संतोष से जीतो।' अग्नि मे इंधन डालकर उसे बुझाया नही जा सकता, वैसे ही इच्छा की पूर्ति के द्वारा इच्छाओ को संतुष्ट नही किया जा सकता। आवश्यकताओ की वृद्धि, वस्तुओ की वृद्धि, उत्पादन और श्रम की वृद्धि मे योग देती है। किन्तु सुख और शान्ति मे योग देती है—यह मान्यता भ्रान्तिपूर्ण है। आवश्यकताओ की वृद्धि से जीवन का स्तर उन्नत होता है, किन्तु सुख और शान्ति का स्तर उन्नत होता है—यह नही माना जा सकता।

धार्मिक मनुष्य भी सामाजिक प्राणी होता है। सामाजिक होने के कारण यह अनिवार्यता और सुविधा की कोटि की आवश्यकताओ को नही छोड पाता। महावीर ने गृहस्थ को उनके त्याग का निर्देश नही दिया। विलासिता कोटि की आवश्यकताएं धार्मिक को छोड़नी चाहिए—इस आधार पर 'इच्छा-परिमाण' की सीमा-रेखा खीची जा सकती है।

अनिवार्यता और सुविधा कोटि की आवश्यकताओ की पूर्ति करते हुए विलासिता कोटि की आवश्यकताओ और इच्छाओं का संयम करना आवश्यक है। इसमे आर्थिक विकास और उन्नत जीवन-स्तर की संभावनाओ का द्वार वन्द भी नही है तथा विलासिता के आधार पर होने वाली आर्थिक प्रगति और उन्नत जीवन-स्तर का द्वार खुला भी नही है।

अर्थशास्त्र के अनुसार अनिवार्यता, सुविधा और विलासिता की सीमा इस प्रकार है—'सुख-दु.ख के आधार के अनुसार आवश्यकताओं का वर्गीकरण इस बात से निर्धारित होता कि किसी वस्तु के उपभोग से उपभोक्ता को सुख मिलता है या उपभोग न करने से उसे दु:ख होता है। यदि किसी वस्तु के उपभोग से मनुष्य को थोडा-सा सुख मिलता है और उपभोग न करने से वहुत दु.ख का अनुभव होता है तव ऐसी वस्तु को हम अनिवार्यता कहेगे। यदि किसी वस्तु के उपभोग से मनुष्य को अनिवार्यता की अपेक्षा अधिक सुख मिलता है, परन्तु उसका उपभोग न करने से थोडा-सा दु ख होता है तव ऐसी वस्तु के उपभोग करने से अत्यन्त सुख अनुभव होता है तथा उसका उपभोग न करने से दु.ख नही होता (सिवाय इसके कि जव मनुष्य उस वस्तु के उपभोग का आदि होता है) तव उसको विलासता की वस्तु कहते है। यदि किसी वस्तु के उपभोग से अल्पकालिक सुख मिलता है तथा उपभोग न करने से वहुत कष्ट होता है तव उसको धनोत्सर्गिक वस्तु कहते हैं।

सुख-दु:ख के आधार पर आवश्यकताओ के इस वर्गीकरण को निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

मनुष्य के सुख-दुःख पर प्रभाव

वस्तुएं	वस्तु का उपभोग करने पर	वस्तु का उपभोग करने पर
अनिवार्यताए	थोडा-सा सुख मिलता है।	बहुत दु ख होता है।
सुखदायक वस्तुए (सुविधाए)	कुछ अधिक सुख मिलता है।	थोडा दु ख होता है।
विलासिताएं	बहुत सुख मिलता है।	दु ख नही होता।[1]

अर्थशास्त्री की दृष्टि मे नैतिकता और शान्ति—ये सब गौण होते है। उसके सामने मुख्य प्रश्न आर्थिक प्रगति के द्वारा मानवीय कल्याण का होता है। इस आधार पर वह विलासिता का समर्थन करता है और आर्थिक प्रगति के लिए उसे आवश्यक मानता है। धर्म-गुरु की दृष्टि मे आर्थिक प्रगति का प्रश्न गौण होता है, नैतिकता और शान्ति का प्रश्न मुख्य होता है।

धर्म-गुरु सामाजिक व्यक्ति को धर्म मे दीक्षित करता है, इसलिए वह उसकी आर्थिक अपेक्षाओ की सर्वथा उपेक्षा कर उसके लिए अपरिग्रह के नियमो की सरचना नही कर सकता। इस आधार पर 'इच्छा-परिणाम' व्रत के परिपार्श्व मे महावीर ने इन नैतिक नियमो का निर्देश दिया—

१. झूठा तोल-माप न करना।
२ मिलावट न करना।
३ असली वस्तु दिखाकर नकली वस्तु न बेचना।

समाज के सदर्भ मे इच्छा-परिणाम के नियामक तत्त्व दो हैं—प्रामाणिकता और करुणा। व्यक्ति के सदर्भ मे उसका नियामक तत्त्व है—सयम। झूठा तोल-माप आदि न करने के पीछे प्रामाणिकता और करुणा की प्रेरणा है। व्यक्तिगत उपभोग कम करने के पीछे सयम की प्रेरणा है। महावीर के व्रती श्रावक अर्थार्जन मे अप्रामाणिक साधनो का प्रयोग नही करते थे और व्यक्तिगत जीवन की सीमा रखते थे। धन के अर्जन मे प्रामाणिक साधनो का उपयोग न करना, सग्रह की निश्चित सीमा करना और व्यक्तिगत उपभोग का सयम करना - ये तीनो मिलकर 'इच्छा-परिणाम' व्रत का निर्माण करते हैं।

यह आर्थिक विपन्नता का व्रत नही है। धर्म और गरीबी मे कोई सम्बन्ध नही है। गरीब आदमी ही धार्मिक हो सकता है या धार्मिक को गरीब होना चाहिए—यह चिन्तन महावीर की दृष्टि मे त्रुटिपूर्ण है। धर्म की आराधना न गरीब कर सकता है और न अमीर कर सकता है। जिसके मन मे शान्ति की भावना जागृत हो जाती है वह धर्म की आराधना कर सकता

१. एम० एल० सेठ, आधुनिक अर्थशास्त्र, पृ० ९०-९१।

है, फिर चाहे वह गरीब हो या अमीर। धार्मिक व्यक्ति गरीबी और अमीरी —दोनो से दूर होकर त्यागी होता है। हमने धर्म को एक जाति का रूप दे दिया। हमारे युग के धार्मिक जन्मना धार्मिक हैं। जो व्यक्ति जिस परम्परा मे जन्म लेता है, उस वंश-परम्परा का धर्म उसका धर्म हो जाता है। जन्मना धार्मिक के लिए इच्छा-परिमाण का व्रत अर्थवान् नही है। यह उन लोगो के लिए अर्थवान् है जो कर्मणा धार्मिक होते है। ऐसे धार्मिक साधु-संन्यासियों जितने विरल नही, फिर भी जनसंख्या की अपेक्षा विरल ही होते है। इसलिए उनके आधार पर न तो आर्थिक मान्यताएं स्थापित होती है और न वे आर्थिक प्रगति मे अवरोध बनते है। अधिकाश धार्मिक जन्मना धर्म के अनुयायी होते है। वे आवश्यकताओ की कमी, अर्थ-संग्रह की कमी, विलासिता के संयम और नैतिक नियमों मे विश्वास नही करते। उनका धर्म नैतिकता-शून्य धर्म होता है। वे धार्मिक होने के साथ-साथ नैतिक होना आवश्यक नही मानते। वे धर्म के प्रति रुचि प्रदर्शित करते हैं, पर उनका आचरण नही करते। ऐसे धार्मिको का धर्म आर्थिक प्रगति को प्रभावित नही करता।

अर्थशास्त्र मे आर्थिक प्रगति के लिए आवश्यकता वढाने का सिद्धान्त है। कुछ अर्थशास्त्री इसका मुक्त समर्थन करते हैं तो कुछ अर्थशास्त्री इसके मुक्त समर्थन के पक्ष मे नही है। आवश्यकताओं को वढ़ाने के पक्ष मे निम्न तर्क प्रस्तुत किए जाते है—

१. आवश्यकताओं की वृद्धि से मनुष्य को अधिकतम सुख या संतोप प्राप्त होता है।

२. आवश्यकताओ की वृद्धि सभ्यता के विकास और जीवनस्तर की उन्नति मे सहायक होती है।

३. आवश्यकताओं की वृद्धि से धन के उत्पादन मे वृद्धि होती है।

४. आवश्यकताओ की वृद्धि से राज्य की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होती है फलत: वह राज्य सैनिक दृष्टिकोण से सशक्त और अपनी रक्षा मे आत्मनिर्भर हो जाता है।

आवश्यकता को वढाने के विपक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किए जाते है—

१. आवश्यकताओ की वृद्धि से मनुष्य दु.ख-क्लेश का अनुभव करता है।

२. आवश्यकताओ की वृद्धि और फिर उनकी संतुष्टि के लिए निरन्तर प्रयत्न मनुष्य को भौतिकवादी बनाता है।

३. आवश्यकताओ की वृद्धि से समाज में वर्ग-संघर्ष (class struggle हो जाता है।

४. आवश्यकताओ की वृद्धि से मनुष्य स्वार्थी हो जाता है और वह अधिक धन कमाने के लिए अप्रामाणिक साधनो का प्रयोग करता है।

अनेकान्त की दृष्टि से मीमास करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सत्याश दोनो के मध्य मे है। आवश्यकताओ की अत्यन्त कमी मे सामाजिक उन्नति नही होती—यह अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण मिथ्या नही है तो आवश्यकताओ की अत्यन्त वृद्धि होने पर दुःख या क्लेश बढता है, यह दृष्टिकोण भी मिथ्या नही है। इस दूसरे दृष्टिकोण को धर्म का समर्थन भी प्राप्त है। अर्थशास्त्र का समर्थन इसलिए प्राप्त है कि मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र मानवीय कल्याण का शास्त्र है और इसका मुख्य उद्देश्य मानवीय कल्याण मे वृद्धि करना है।[1] सीमित साधनो मे असीमित आवश्यकताओ की सतुष्टि का पथ प्रदर्शित करना अर्थशास्त्र का कार्य है। किन्तु जिस अनुपात मे आवश्यकताओ की वृद्धि की जा सकती है उसी अनुपात मे उनकी संतुष्टि नही की जा सकती। सभी मनुष्य अपनी सभी आवश्यकताओ को सतुष्ट नही कर सकते। अधिकाश लोग अपनी तीव्र आवश्यकताओ (अनिवार्यताओ) की संतुष्टि कर पाते है। मध्यम आवश्यकताओ (सुविधाओ) की सतुष्टि अपेक्षाकृत कम लोग कर पाते है। मन्द आवश्यकताओ (विलासिताओ) की सतुष्टि कुछ ही लोग कर पाते है। इस क्रम के साथ महावीर के दृष्टिकोण—'लाभ से लोभ बढता है'—का अध्ययन करने पर यह फलित होता है कि आवश्यकताओ की वृद्धि के क्रम मे कुछ आवश्यकताओ की सतुष्टि की जा सकती है, किन्तु उनकी वृद्धि के साथ उभरने वाले मानसिक असतोष और अशान्ति की चिकित्सा नही की जा सकती। अर्थशास्त्र द्वारा प्रस्तुत मानव के भौतिक कल्याण की वेदी पर मानव की मानसिक शान्ति की आहुति नही दी जा सकती। इसलिए भौतिक कल्याण और आध्यात्मिक कल्याण के मध्य सामजस्य स्थापित करना अनिवार्य है। यदि मनुष्य समाज को मानसिक तनाव, पागलपन, क्रूरता, शोषण, आक्रमण और उछृंखल प्रवृत्तियो से बचना इष्ट है तो यह अनिवार्यता और अधिक तीव्र हो जाती है। इसी अनिवार्यता की अनुभूति करके ही महावीर ने समाज के सामने 'इच्छा-परिमाण' का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इस आदर्श मे अनिवार्यताओ और सुविधाओ को छोडने की शर्त नही है और विलासितापूर्ण आवश्यकताओ की परम्परा को चालू रखने की स्वीकृति भी नही है। 'इच्छा-परिमाण' के सिद्धान्त मे अर्थशास्त्रीय आवश्यकता-वृद्धि के सिद्धान्त से मौलिक भिन्नता दो विषयो की है। पहली भिन्नता यह है—अर्थशास्त्र विलासिताओ के उपभोग का समर्थन करता है। उसके समर्थन मे निम्न तर्क प्रस्तुत किए जाते है—

---

१. अल्फ्रेड मार्शल, Principles of Economics, P.I.

१. विलासिताओ के उपभोग से सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति होती है ।

२. कर्मशीलता को प्रोत्साहन मिलता है ।

३. जीवन-स्तर ऊंचा होता है ।

४. धन-सग्रह होता है । सकट के समय वह (आभूषण आदि) सहायक सिद्ध होता है ।

५. कला-कौशल, कारीगरी तथा उद्योग-धधो को प्रोत्साहन मिलता है ।

सब अर्थशास्त्री इन विलासिताओ के उपभोग के सिद्धान्त का समर्थन नही करते । उनका दृष्टिकोण यह है कि विलासिताओ के उपयोग से—

१. वर्ग-विषमता (class inequality) बढती है ।

२. उत्पादन-कार्यो के लिए पूजी की कमी हो जाती है ।

३. निर्धन वर्ग पर प्रतिकूल प्रभाव होता है, द्वेष तथा घृणा की वृद्धि होती है ।

विलासिता के प्रति यह दृष्टिकोण धर्म के दृष्टिकोण से भिन्न नही है, किन्तु विलासिता के समर्थन का अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण उससे सर्वथा भिन्न है ।

दूसरी भिन्नता यह है कि अर्थशास्त्र मे नैतिक नियमो की अनिवार्यता स्वीकृत नही है । नैतिक नियमो की अवहेलना उसका उद्देश्य नही है, किन्तु यह उसकी प्रकृति का प्रश्न है । उसकी प्रकृति उपयोगिता है । उपयोगिता का अर्थ है—आवश्यकता को संतुष्ट करने की क्षमता । नैतिक नियम के अनुसार शराब मनुष्य के लिए लाभदायी नही है, इसलिए वह उपयोगी भी नही है । वही वस्तु उपयोगी हो सकती है जो लाभदायी हो । जो प्रवृत्तिकाल और परिणाम-काल—दोनो मे सुखद न हो, वह लाभदायक नही हो सकती । और जो लाभदायक नही हो सकती वह उपयोगी नही हो सकती । अर्थशास्त्र मे उपयोगिता की परिभाषा नैतिकता की परिभाषा से भिन्न है । उसमे उपयोगिता के साथ लाभदायिकता का अनुबन्ध नही है । आवश्यकता को सन्तुष्ट करने वाली वस्तु लाभदायी न होने पर भी उपयोगी हो सकती है । मद्यपान निश्चित रूप से हानिकारक है । किन्तु मद्य मे मद्यप के लिए एक उपयोगिता है । मद्यप मद्य की आवश्यकता का अनुभव करता है और मद्य उसकी आवश्यकता को संतुष्ट करती है । प्रो० रोबिन्स का मत है कि अर्थ-शास्त्र मे ऐसे अनेक विषयो का अध्ययन किया जाता है जिसका मानवीय कल्याण से दूर का भी सम्बन्ध नही होता । मद्य पीने से मनुष्य के कल्याण अथवा सुख मे किसी प्रकार की वृद्धि नही होती, प्रत्युत कमी होने की सम्भावना है । फिर भी मद्य-उद्योग का अर्थशास्त्र मे अध्ययन होता है,

क्योंकि मद्य-निर्माण एक आर्थिक कार्य है और अनेक व्यक्ति इस उद्योग से अपनी आजीविका कमाते हैं।

धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण का यह अन्तर उसकी प्रकृति का अन्तर है। दोनो की प्रकृति का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है—

१ नैतिक नियम मनुष्य के सामने जीवन का आदर्श प्रस्तुत करते है। आर्थिक नियम मानवीय आचरण के आर्थिक पहलुओ का अध्ययन करते है।

२ नैतिक नियमो की अवहेलना करने पर मनुष्य को आत्मग्लानि होती है। आर्थिक नियमो का अतिक्रमण करने पर आत्मग्लानि नही होती।

३. नैतिक नियमो का पालन करने पर मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति होती है। आर्थिक नियमो का पालन करने पर आर्थिक उन्नति होती है।

इस प्रकृति-भेद को समझ लेने पर धर्मशास्त्र के विधि-विधान की दूरी स्वय बुद्धिगम्य हो जाती है। अर्थशास्त्र मे नैतिकता के लिए सर्वथा अवकाश नही, ऐसी बात नही है। ईमानदारी, निष्कपटता आदि गुणो को कार्य-कुशलता का निर्धारण करने वाले तत्त्वो के रूप मे स्वीकार करने वाले अर्थशास्त्री नैतिकता की सर्वथा उपेक्षा नही कर सकते। अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र—ये दोनो समाजशास्त्र के ही अग है। इन दोनो मे मानवीय व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। अर्थशास्त्र मे मानवीय व्यवहार के आर्थिक पहलू का और नीतिशास्त्र मे उसके आदर्शात्मक पहलू का अध्ययन किया जाता है। नीतिशास्त्र आदर्श प्रस्तुत करता है। वह हमे बताता है कि हमारा आचरण कैसा होना चाहिए। नीतिशास्त्र उचित और अनुचित मे भेद करने का आदेश देता है और हमे बताता है कि क्या करना चाहिए और क्या नही करना चाहिए। अर्थशास्त्री आर्थिक निर्णय सुनाते तथा व्यवस्था देते समय नीतिशास्त्र के निर्देशो की उपेक्षा नही कर सकते। उदाहरणार्थ डॉ मार्शल ने सदाचार के आधार पर अपनी 'उत्पादक श्रम' की धारणा से वेश्यावृत्ति को बाहर निकाल दिया। जैसा कि प्रो० सैलिगमैन (Saligman) ने कहा है—'सच्ची आर्थिक क्रिया परिणामत. सदाचारिक होनी चाहिए।' इस प्रकार अर्थशास्त्री आर्थित नीति के निर्माण मे नीतिशास्त्र की उपेक्षा नही कर सकता।

इसी प्रकार अर्थशास्त्र का नीतिशास्त्र पर भी बहुत गहरा प्रभाव पडता है। आर्थिक परिस्थितिया मनुष्य के चरित्र तथा आचार-विचार पर गहरा प्रभाव डालती है। अमुक व्यक्ति का आचार कैसा होगा, इस बात से नश्चित होता है कि वह अपनी आजीविका कैसे कमाता है। इस प्रकार

अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र मे घनिष्ठ सम्बन्ध है ।[1]

महावीर ने कहा—'इच्छा का परिमाण नही करने वाला मनुष्य अधर्म से आजीविका कमाता है और इच्छा का परिमाण करने वाला मनुष्य धर्म से आजीविका कमाता है। अधर्म या धर्म से आजीविका कमाने मे आर्थिक परिस्थितियां निमित्त बनती है किन्तु उनका उत्पादन कारण अनासक्ति तथा धर्मश्रद्धा का तारतम्य है।

'इच्छा-परिमाण' के निष्कर्ष सक्षेप मे इस प्रकार प्रस्तुत किए जा सकते है—

१ न गरीबी और न विलासिता का जीवन ।

२. धन आवश्यकता-पूर्ति का साधन है, साध्य नही। धन मनुष्य के लिए है, मनुष्य धन के लिए नही है।

३. आवश्यकता की सन्तुष्टि के लिए धन का अर्जन किन्तु दूसरो को हानि पहुचाकर अपनी आवश्यकताओ की सन्तुष्टि न हो, इसका जागरूक प्रयत्न ।

४. आवश्यकताओ, सुख-सुविधाओ और उनकी सन्तुष्टि के साधनभूत धन-संग्रह की सीमा का निर्धारण ।

५. धन के प्रति उपयोगिता के दृष्टिकोण का निर्माण कर सगृहीत धन मे अनाशक्ति का विकास ।

६. धन के सतुष्टि-गुण को स्वीकार करते हुए आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से उसकी असारता का अनुचिन्तन ।

७. विसर्जन की क्षमता का विकास ।

---

१. एम० एल० सेठ : आधुनिक अर्थशास्त्र, पृ० ३३ ।

५

मनुष्य की स्वतन्त्रता का मूल्य

यदि यह जगत् अद्वैत होता—एक ही तत्त्व होता, दूसरा नही होता तो स्वतत्र और परतत्र की मीमासा नही होती। इस जगत् मे अनेक तत्त्व है। वे एक-दूसरे को प्रभावित करते है। उनमे कार्य-कारण का सम्बन्ध भी है। इस परिस्थिति मे स्वतन्त्र और परतन्त्र की मीमामा अनिवार्य हो जाती है। दूसरी वात है—प्रत्येक तत्त्व परिवर्तनशील है। परिवर्तन तत्त्व की आन्तरिक प्रक्रिया है। काल के हर क्षण के साथ वह घटित होता है। सूर्य और चन्द्रकृत काल सार्वदेशिक नही है। जो परिवर्तन का निमित्त वनता है, वह काल सार्वदेशिक है, वह प्रत्येक तत्त्व का आन्तरिक पर्याय है। वह निरन्तर गतिशील है। उसकी गतिशीलता तत्त्व को भी गतिशील रखती है। वह कभी और कही भी अवरुद्ध नही होती। परिवर्तन की अनिवार्य शृखला से प्रतिवद्ध तत्त्व के लिए स्वतत्र और परतंत्र का प्रश्न स्वभाविक है। जो कार्य-कारण की शृखला से वधा हुआ है, वह स्वतन्त्र नही हो मकता। जिमके साथ परिवर्तन की अनिवार्यता जुडी हुई है, वह स्वतन्त्र नही हो मकता। मनुष्य कार्य-कारण की शृखला से वधा हुआ है, गतिशीलता का अपवाद भी नही है, फिर वह स्वतन्त्र कैसे हो मकता है? क्या फिर वह परतन्त्र है? कोई भी वस्तु केवल परतन्त्र नही हो सकती। यदि कोई स्वतन्त्र है तो कोई परतन्त्र हो सकता है और यदि कोई परतन्त्र है तो कोई स्वतन्त्र हो मकता है। केवल स्वतन्त्र और केवल परतन्त्र कोई नही हो सकता। प्रतिपक्ष के विना पक्ष का अस्तित्व स्थापित नही किया जा सकता। मनुष्य परतन्त्र है, इसका अर्थ है कि वह स्वतन्त्र भी है।

स्वतन्त्र और परतन्त्र की सापेक्ष व्याख्या हो मकती है। निरपेक्ष दृष्टि से कोई वस्तु स्वतन्त्र नही है और कोई परतन्त्र नही है। महावीर ने दो नयो से विश्व की व्याख्या की—पहला निश्चय नय और दूसरा व्यवहार नय। निश्चय नय के अनुसार प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप मे प्रतिष्ठित है। न कोई आधार है और न कोई आधेय। न कोई कारण है और न कोई कार्य। न कोई कर्ता है और न कोई कृति। जो कुछ है वह स्वरूपगत है। यह अस्तित्व की व्याख्या है। उसके विस्तार की व्याख्या व्यवहार नय करता है। उसकी सीमा मे आधार और आधेय, कार्य और कारण, कर्ता और कृति का

सम्बन्ध है, वहा स्वतन्त्रता और परतन्त्रता की भी व्याख्या सम्भव है।

स्वतन्त्रता का चिन्तन दो कोटि के दार्शनिको ने किया है। धर्म के संदर्भ मे स्वतन्त्रता का चिन्तन करने वाले दार्शनिक व्यक्ति की आन्तरिक प्रभावो (आत्मिक गुणो को नष्ट करने वाले आवेशों) से मुक्ति को स्वतन्त्रता मानते है। राजनीति के संदर्भ मे स्वतन्त्रता का चिन्तन करने वाले दार्शनिक व्यक्ति की बाहरी प्रभावों (व्यवस्थाकृत दोषपूर्ण नियंत्रणो) के मुक्ति को स्वतन्त्रता मानते है। धर्म जागतिक नियमो की व्याख्या है, इसलिए उसकी सीमा मे स्वतन्त्रता का सम्बन्ध केवल मनुष्य से नही किन्तु जागतिक व्यवस्था से है। राजनीति वैधानिक नियमो की व्याख्या है, इसलिए उसकी सीमा मे स्वतन्त्रता का सम्बन्ध व्यक्तियो के पारस्परिक सम्बन्ध और संविधान से है। भारतीय धर्माचार्यो दार्शनिको ने अधिकांशतया, धार्मिक स्वतन्त्रता की व्याख्या की है। उन्होने राजनीतिक स्वतन्त्रता के विषय मे अपना मत प्रकट नही किया। इसका एक कारण यह हो सकता है कि वे शाश्वत नियमो की व्याख्या मे राजनीति के सामयिक नियमो का मिश्रण करना नही चाहते थे। उन्होने शाश्वत नियमो पर आधारित स्वतन्त्रता की व्याख्या से राजनीतिक स्वतन्त्रता को प्रभावित किया किन्तु उसका स्वरूप निर्धारित नही किया। स्मृतिकारो और पौराणिक पडितो ने राजनीतिक स्वतन्त्रता की व्याख्या की है। उन्होने वैयक्तिक स्वतन्त्रता को बहुत मूल्य दिया।

पश्चिमी दार्शनिको ने राजनीति के सदर्भ मे स्वतन्त्रता और शासन-व्यवस्था की समस्या पर पर्याप्त चिन्तन किया। अरस्तू, ऐक्वाइनेस, लॉक और मिल आदि राजनीतिक दार्शनिको ने वैयक्तिक स्वतन्त्रता को आधारभूत तत्त्व के रूप मे प्रतिपादित किया। दूसरी ओर प्लेटो, माक्यावेली, हाब्ज, हेगल और बर्क आदि राजनीतिक दार्शनिको ने शासन-व्यवस्था को प्राथमिकता दी।

राजनीतिक दार्शनिको की दृष्टि मे वही व्यक्ति स्वतन्त्र है जो कर्तव्य का पालन करता है—वही कार्य करता है जो उसे करना चाहिए। व्यक्ति के कर्तव्य का निर्धारित सामाजिक मान्यताओ और सविधान की स्वीकृतियों के आधार पर होता है। इस अर्थ मे व्यक्ति सामाजिक और वैधानिक स्वीकृतियों का अतिक्रमण किए बिना इच्छानुसार कार्य करते मे स्वतन्त्र है। इस स्वतन्त्रता का उपयोग सामाजिक और आर्थिक प्रगति मे होता है। महावीर के दर्शन मे स्वतन्त्रता का अर्थ है कषाय-मुक्ति—क्रोध, मान, माया और लोभ से मुक्ति। आवेशमुक्त व्यक्ति ही स्वतन्त्र क्रिया कर सकता है। गाली के प्रति गाली, क्रोध के प्रति क्रोध, अह के प्रति अहं और प्रवाह के प्रति प्रवाह—यह प्रतिक्रिया का जीवन है। प्रतिक्रिया का जीवन जीने वाला कोई भी व्यक्ति स्वतन्त्र नही हो सकता। चिड़िया जैसे अपने प्रतिबिम्ब पर चोंच मारती थी, बच्चे ने अपनी परछाई को पकड़ने का प्रयत्न किया और सिंह

अपने ही प्रतिबिम्ब के साथ लडता हुआ कुए मे गिर पडा—ये सब प्रतिक्रियाए बाहरी दर्शन मे घटित होती है। स्वतन्त्रता आतरिक गुण है। जिसका अन्तःकरण आवेश से मुक्त हो जाता है, वह समस्या का समाधान अपने भीतर खोजता है, क्रिया का जीवन जीता है और वह सही अर्थ मे स्वतन्त्र होता है। वह गाली के प्रति मौन, क्रोध के प्रति प्रेम, अहं के प्रति विनम्रता और प्रहार के प्रति शान्ति का आचरण कर सकता है। यह क्रिया सामने वाले व्यक्ति के व्यवहार से प्रेरित नही होती किन्तु अपने ध्येय से प्रेरित होती है, इसलिए यह क्रिया है। स्वतन्त्रता का आध्यात्मिक अर्थ है क्रिया, परतन्त्रता का अर्थ है प्रतिक्रिया। अहिंसा क्रिया हैं, हिंसा प्रतिक्रिया। इसीलिए महावीर ने अहिंसा को धर्म और हिंसा को अधर्म बतलाया। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता धर्म है और परतन्त्रता अधर्म।

आन्तरिक जगत् मे मनुष्य सीमातीत स्वतन्त्र हो सकता है किन्तु शरीर, कर्म और समाज के प्रतिबन्ध-क्षेत्र मे कोई भी मनुष्य सीमातीत स्वतन्त्र नही हो सकता। वहा आन्तरिक और बाहरी प्रभाव उसकी स्वतन्त्रता को सीमित कर देते हैं। आत्मा अपने अस्तित्व मे ही पूर्ण स्वतन्त्र हो सकती है। बाहरी सम्पर्को मे उसकी स्वतन्त्रता सापेक्ष हो सकती है। यह संसार अपने स्वरूप मे स्वय बदलता है। इसके बाहरी आकार को जीव बदलते हैं और मुख्यतया मनुष्य बदलता है। क्या मनुष्य इस ससार को बदलने मे समर्थ है? क्या वह इसे अच्छा बनाने मे समर्थ है? इन प्रश्नो का उत्तर दो विरोधी धाराओ मे मिलता है। एक धारा परतन्त्रतावादी दार्शनिको की है। उसके अनुसार मनुष्य कार्य करने मे स्वतन्त्र है। वह संसार को बदल सकता है, उसे अच्छा बना सकता है। कालवादी दार्शनिक मनुष्य के कार्य को काल से प्रतिबधित, स्वभाववादी दार्शनिक उसे स्वभाव से प्रतिबधित, नियतिवादी दार्शनिक उसे नियति से निर्धारित, भाग्यवादी दार्शनिक उसे भाग्य के अधीन और पुरुषार्थवादी दार्शनिक उसे पुरुषार्थ से निष्पन्न मानते है।

महावीर ने मनुष्य के कार्य की अनेकान्तदृष्टि से समीक्षा की। उन्होने कहा—द्रव्य वह होता है, जिसमे अर्थक्रिया होती है। यह स्वाभाविक क्रिया है। यह न किसी निमित्त से होती है और न किसी निमित्त से अवरुद्ध होती है। यह किसी निमित्त से प्रतिबधित नही होती इसलिए पूर्ण स्वतन्त्र होती है। द्रव्य मे बाह्य निमित्तो से अस्वाभाविक क्रिया भी होती है। वह अनेक योगो से निष्पन्न होने के कारण यौगिक होती है। यौगिक क्रिया मे काल, स्वभाव, नियति, भाग्य और पुरुषार्थ—इन सबका योग होता है—किसी का कम और किसी का अधिक। जिसमे काल, स्वभाव, नियति या भाग्य का योग अधिक होता है उसमे मनुष्य विचार मे स्वतन्त्र होते हुए भी कार्य करने मे परतन्त्र होता है। जिसमे पुरुषार्थ का योग अधिक होता है

उसमे मनुष्य काल आदि योगो से परतन्त्र होते हुए भी कार्य करने मे स्वतन्त्र होता है। इस प्रकार मनुष्य की कार्य करने की स्वतन्त्रता सापेक्ष ही होती है; निरपेक्ष, निरन्तर और निर्बाध नही होती। यदि वह निरपेक्ष होती तो मनुष्य इस संसार को सुदूर अतीत मे ही अपनी इच्छानुसार बदल देता और यदि वह कार्य करने मे स्वतन्त्र होता ही नही तो वह संसार को कुछ भी नही बदल पाता। यह सच है कि उसने ससार को बदला है और यह भी सच है कि वह ससार को अपनी इच्छानुसार एक चुटकी मे नही बदल पाया है, धरती पर निर्बाध सुख की सृष्टि नही कर पाया है। इन दोनो वास्तविकताओ मे मनुष्य के पुरुषार्थ की सफलता और विफलता, क्षमता और अक्षमता के स्पष्ट प्रतिबिम्ब है।

मनुष्य की कार्यजा शक्ति यदि काल, स्वभाव आदि मे से किसी एक ही तत्त्व द्वारा सचालित होती तो काल, स्वभाव आदि मे संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती और वे एक-दूसरे को समाप्त करने मे लग जाते, किन्तु जागतिक द्रव्यो और नियमो मे विरोध और अविरोध का सामजस्यपूर्ण संतुलन है इसलिए वे कार्य की निष्पत्ति मे अपना-अपना अपेक्षित योग देते है। सापेक्षवाद की दृष्टि से किसी भी तत्त्व को प्राथमिकता या मुख्यता नही दी जा सकती। अपने-अपने स्थान पर सब प्राथमिक और मुख्य हैं। काल का कार्य स्वभाव नही कर सकता और स्वभाव का कार्य काल नही कर सकता। भाग्य का कार्य पुरुषार्थ नही कर सकता और पुरुषार्थ का कार्य भाग्य नही कर सकता। फिर भी कर्तृत्व के क्षेत्र मे पुरुषार्थ अग्रणी है। पुरुषार्थ से काल के योग को पृथक् नही किया जा सकता, किन्तु काल की अवधि मे परिवर्तन किया जा सकता है। पुरुषार्थ से भाग्य के योग को पृथक् नही किया जा सकता, किन्तु भाग्य मे परिवर्तन किया जा सकता है। इन सत्यो को इतिहास और दर्शन की कसौटी पर कसा जा सकता है। जैसे-जैसे मनुष्य के ज्ञान का विकास होता है, वैसे-वैसे पुरुषार्थ की क्षमता बढती है। सभ्यता के आदिम युग मे मनुष्य का ज्ञान अल्प-विकसित था। उसके उपकरण भी अविकसित थे, फलत: पुरुषार्थ की क्षमता भी कम थी। प्रस्तरयुग की तुलना मे अणुयुग के मनुष्य का ज्ञान बहुत विकसित है उसके उपकरण शक्तिशाली है और पुरुषार्थ की क्षमता बहुत बढ़ी है। आदिम युग का मनुष्य केवल प्रकृति पर निर्भर था। वर्षा होती तो खेती हो जाती। एक एकड भूमि मे जितना अनाज उत्पन्न होता उतना हो जाता। अनाज को पकाने मे जितना समय लगता, उतना लग जाता। आज का मनुष्य इन सब पर निर्भर नही है। उसने सिंचाई के स्रोतो का विकास कर वर्षा की निर्भरता को कम कर दिया। उसने रासायनिक खादो का निर्माण कर अनाज की पैदावार मे अत्यधिक वृद्धि कर दी और कृत्रिम उपायो द्वारा फसल के पकने की अवधि

को भी कम करने का प्रयत्न किया है। पुरुषार्थ के द्वारा काल की अवधि और स्वभाव के परिवर्तन के सैकडो उदाहरण सभ्यता के इतिहास मे खोजे जा सकते हैं। काल, स्वभाव आदि को ज्ञान का वरदहस्त प्राप्त नही है, इसलिए वे पुरुषार्थ को कम प्रभावित करते है। पुरुषार्थ को ज्ञान का वरदहस्त प्राप्त है, इसलिए वह काल, स्वभाव आदि को अधिक प्रभावित करता है। उनको प्रभावित कर वर्तमान को अतीत से भिन्न रूप मे प्रस्तुत कर देता है।

इमान्युएल कान्ट (Immanuel Kant) ने इस विचार का प्रतिपादन किया है कि मनुष्य अपनी सकल्प-शक्ति मे स्वतन्त्र है और इसीलिए कर्म करने और शुभ-अशुभ फल भोगने मे भी स्वतन्त्र है। यदि वह कर्म करने मे स्वतन्त्र न हो तो वह कर्म करने और उसका फल भोगने के लिए उत्तरदायी नही होता। भारतीय कर्मवाद का यह प्रसिद्ध सूत्र है कि अच्छे कर्म का अच्छा और बुरे कर्म का बुरा फल होता है। मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा फल भोगता है। इस सूत्र की मीमांसा से यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य नया कर्म करने मे पुराने कर्म से बधा हुआ है। वह कर्म करने और उसका फल भोगने मे स्वतन्त्र नही है। यदि ऐसा है तो उसे किसी भी अच्छे या बुरे कर्म के लिए उत्तरदायी नही ठहराया जा सकता। उसका वर्तमान अतीत से नियन्त्रित है। वर्तमान का अपना कोई कर्तृत्व नही है। वह अतीत की कठपुतली मात्र है। कर्मवाद के इस सामान्य सूत्र ने भारतीय मानस को बहुत प्रभावित किया। उसे भाग्यवाद के साचे मे ढाल दिया। उसके प्रभाव ने पुरुषार्थ की क्षमता क्षीण कर दी।

महावीर ने पुरुषार्थ के सिद्धात का प्रतिपादन किया। उनका पुरुषार्थवाद भाग्यवाद के विरोध मे नही था। भाग्य पुरुषार्थ की निष्पत्ति है। जो जिसके द्वारा निष्पन्न होता है, वह उसके द्वारा परिवर्तित भी हो सकता है। महावीर ने कर्म के उदीरण और सक्रमण के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर भाग्यवाद का भाग्य पुरुषार्थ के अधीन कर दिया। कर्म के उदीरण का सिद्धात है कि कर्म की अवधि को घटाया-बढाया जा सकता है और उसकी फल देने की शक्ति को मद और तीव्र किया जा सकता है। कर्म के संक्रमण का सिद्धात है कि असत् प्रयत्न की उत्कटता के द्वारा पुण्य को पाप मे बदला जा सकता है और सत् प्रयत्न की तीव्रता के द्वारा पाप को पुण्य मे बदला जा सकता है। मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा फल भोगता है—कर्मवाद के इस एकाधिकार को यदि उदीरण और सक्रमण का सिद्धात सीमित नही करता तो मनुष्य भाग्य के हाथ का खिलौना होता। उसकी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती। फिर ईश्वर की अधीनता और कर्म की अधीनता मे कोई अन्तर नही होता। किन्तु उदीरण और सक्रमण के सिद्धान्त ने मनुष्य को भाग्य के एकाधिकार से मुक्त कर स्वतन्त्रता के दीवट पर पुरुषार्थ के प्रदीप को

प्रज्वलित कर दिया ।

नियति को हम सीमित अर्थ मे स्वीकार कर पुरुषार्थ पर प्रतिवन्ध का अनुभव करते हैं। पुरुषार्थ पर नियति का प्रतिवंध है, किन्तु इतना नही है, जिससे कि पुरुषार्थ की उपयोगिता समाप्त हो जाए। यदि हम नियति को जागतिक नियम (Univerasal Law) के रूप मे स्वीकार करें तो पुरुषार्थ भी एक जागतिक नियम है। इसलिए नियति उसका सीमा-बोध करा सकती है किन्तु उसके स्वरूप को विलुप्त नही कर सकती। विलियम जेम्स ने लिखा है—'संसार मे सब कुछ पहले से ही निर्धारित हो तो मनुष्य का पुरुषार्थ व्यर्थ है, क्योकि पूर्व-निर्धारित अन्यथा नही हो सकता। यदि संसार में अच्छा और बुरा करने की स्वतन्त्रता न हो तो पश्चात्ताप करने का क्या औचित्य है ? किन्तु जहां सब कुछ पहले से निर्धारित हो तो वहा पश्चात्ताप करने से रोका भी नही जा सकता। जब तक हम मनुष्य की स्वतन्त्रता स्वीकार नही करेंगे, तब तक हम उसे किसी कार्य के लिए उत्तरदायी नही ठहरा सकते। अनेकान्तदृष्टि हमे इस वास्तविकता पर पहुंचा देती है कि इस विश्व मे नियत वही है जो शाश्वत है। जो अशाश्वत है, वह नियत नही हो सकता। अस्तित्व शाश्वत है। कोई भी पुरुषार्थ उसे अनस्तित्व मे नही बदल सकता। जो यौगिक है, वह अशाश्वत है, वह पूर्व-निर्धारित नही हो सकता। उसे बदलने मे ही स्वतन्त्रता और पुरुषार्थ की अर्थवत्ता है। पुरुषार्थ के द्वारा भाग्य को बदला जा सकता है, संसार को अच्छा या बुरा किया जा सकता है। यह पुरुषार्थ की सीमा का कार्य है। ऐसा करने मे नियति उसका साथ देती है। अस्तित्व को बनाया-बिगाडा नही जा सकता। वह पुरुषार्थ की सीमा से परे है। नियति और पुरुषार्थ की इस सीमा का बोध होने पर उन दोनो मे विरोध का अनुभव नही होता, सापेक्षतापूर्ण सामंजस्य का ही अनुभव होता है।

क्रिया चेतन और अचेतन—दोनो का मौलिक गुण है। अचेतन की क्रिया स्वाभाविक या पर-प्रेरित होती है। चेतन मे स्वाभाविक क्रिया के साथ-साथ स्वतन्त्र क्रिया भी होती है। यंत्र की गति निर्धारित मार्ग पर होती है। उसमे इच्छा और संकल्प की शक्ति नही होती, इसलिए उसकी गति स्वतन्त्र नही होती।

मनुष्य चेतन है। उसमे इच्छा, सकल्प और विचार की शक्ति है, इसलिए वह स्वतन्त्र क्रिया करता है। डन्स स्काट्स ने भी इसी आधार पर मनुष्य की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया है। उन्होंने लिखा है—'हमारी स्वतन्त्रता हमारे संकल्पो के कारण है। व्यक्ति धर्म के मार्ग को जानते हुए भी अधर्म के पथ पर चल सकता है, यही उसकी स्वतन्त्रता है।'

प्रगति का पहला चरण है संकल्प और दूसरा चरण है प्रयत्न। ये दोनों

मनुष्य मे सर्वाधिक विकसित होते हैं। इसलिए हमारे ससार की प्रगति का मुख्य सूत्रधार मनुष्य ही है। उसने आन्तरिक जगत् मे सुख-दुःख, सिद्धान्त, कल्पना, तर्क और भावना की सृष्टि की है। उसने बाह्य जगत् मे आवश्यकता, सुख-सुविधा और विलासिता के उपकरणो की सृष्टि की है। युद्ध और शान्ति का सृजन मनुष्य ने ही किया है।

डार्विन ने यह स्थापना की — संघर्ष प्रकृति का एक नियम है। वह शाश्वत और सार्वत्रिक है। वह जीवन-सग्राम का मूल हेतु है। इस स्थापना का स्वर भारतीय चिन्तन मे भी 'जीवो जीवस्य जीवनम्' के रूप मे मिलता है। डार्विन ने जगत् को संघर्ष के दृष्टिकोण से देखा। इसमे भी सत्याश है। किन्तु यह पूर्ण सत्य नही है। महावीर ने जगत् को भिन्न दृष्टिकोण से देखा था। उन्होंने इस सिद्धान्त की स्थापना की कि जीव-जगत् पारस्परिक सहयोग के आधार पर टिका हुआ है। मनुष्य मे यदि सघर्ष का बीज है तो उसमे सहयोग का बीज क्यो नही हो सकता? यदि वह सघर्ष करने मे स्वतन्त्र है तो वह सहयोग करने मे स्वतन्त्र क्यो नही हो सकता? महावीर के सिद्धात का सार है कि मनुष्य सघर्ष और सहयोग—दोनो के लिए स्वतन्त्र है किन्तु जीवन मे शाति की प्रतिष्ठा के लिए वह अपनी स्वतन्त्रता को सघर्ष की दिशा से हटाकर सहयोग की दिशा मे मोड दे। हमारे जीवन मे संघर्ष के क्षण बहुत कम होते है, सहयोग के क्षण बहुत अधिक।

महावीर ने मनुष्य की स्वतन्त्रता को कुठित नही किया। उन्होंने उसके दिशा-परिवर्तन का सूत्र दिया। वह सूत्र है—'मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग श्रेय की दिशा मे करे, हर बुराई को अच्छाई मे बदल डाले।'

६

कर्मवाद

कर्मवाद की पृष्ठभूमि

कुछ प्राणी सवेदन करते है, जानते नही। कुछ प्राणी जानते हैं, संवेदन नही करते। कुछ प्राणी जानते भी हैं और सवेदन भी करते हैं। अचेतन न जानता है और न सवेदन करता है। ये चार विकल्प है।

पहले विकल्प मे सवेदन है, ज्ञान नही। यह चेतना का निम्न स्तर है। यह वृत्ति का स्तर है। इसके आधार पर जीवन जीया जा सकता है पर चैतन्य का विकास नही किया जा सकता।

दूसरा विकल्प शुद्ध ज्ञान का है। इसमे सवेदन नही है, कोरा ज्ञान है। सवेदन का माध्यम शरीर है। मुक्त आत्मा मे शरीर नही होता। जिसके शरीर नही होता, वह प्रिय और अप्रिय—दोनो का स्पर्श नही करते।

तीसरे विकल्प मे ज्ञान और सवेदन—दोनो हैं। यह मानसिक और बौद्धिक विकास का स्तर है। इस स्तर मे चैतन्य के विकास की पर्याप्त सम्भावना होती है। जैसे-जैसे हमारा ज्ञान विकसित होता चला जाता है, वैसे-वैसे हम संवेदन के धरातल से उठकर ज्ञान की भूमिका को विकसित करते चले जाते है। जैसे-जैसे हमारी ज्ञान की भूमिका विकसित होती है, वैसे-वैसे हम आत्मा के अस्तित्व मे प्रवेश पाते हैं। हम अपने अस्तित्व मे तब तक प्रवेश नही पाते, जब तक सवेदन का धरातल नीचे नही रह जाता। आचार्य अमितगति के शब्दो मे अज्ञानी संवेदन के धरातल पर जीता है और ज्ञानी ज्ञान के धरातल पर। मनुष्य दो धरातल पर जीते है। ज्ञानी मनुष्य जानते है किन्तु सवेदन नही करते। जो घटना घटित होती हैं, उसे जानते-देखते हैं किन्तु उसका सवेदन नही करते, भार नही ढोते। अज्ञानी मनुष्य जानते नही, सवेदन करते है। वे स्थिति का भार ढोते है। वेदान्त का साधना-सूत्र है कि साधक द्रष्टा होकर जीये। वह घटना के प्रति साक्षी रहे, उसे देखे, किन्तु उससे प्रभावित न हो, उसमे लिप्त न हो।

ज्ञान होना और सवेदन न होना—यह द्रष्टा का जीवन है। मेरे हाथ मे कपड़ा है। मैं इस कपडे को जानता हू, देखता हूं। मैं इस कपडे को कपड़ा मानता हूं। इससे अधिक कुछ नही मानता। यह ज्ञान का जीवन है, यह आत्म-दर्शन है। प्रश्न हो सकता है—'यह आत्म-दर्शन कैसे ? यह तो

वस्त्र-दर्शन है। वस्त्र-दर्शन को हम आत्म-दर्शन कैसे मान सकते है ?' इसका उत्तर बहुत साफ है। मैं वस्त्र को जानता हूं। मैं केवल जानता हू, उसके साथ कोई सवेदनात्मक संबंध स्थापित नही करता। इसका अर्थ है मैं ज्ञान को जानता हूं और ज्ञान को जानने का अर्थ है मैं अपने आपको जानता हू। ज्ञान और ज्ञानी सर्वथा अभिन्न नही है और सर्वथा भिन्न भी नही है। बहुत सारे लोग आत्म-दर्शन करना चाहते हैं। आत्म-दर्शन का उपाय बहुत जटिल माना जाता है। मैं आपको बहुत सरल उपाय बता रहा हूं। आप इस वस्त्र को देखें। यह आपका आत्म-दर्शन है। आप वस्त्र को देख रहे हैं, तब केवल वस्त्र को नही देख रहे है। जिससे वस्त्र को देख रहे है, उसे भी देख रहे हैं, अपने ज्ञान को भी देख रहे है। जहा केवल ज्ञान का प्रयोग होता है, वहा अपने अस्तित्व का अनुभव होता है। अपने अस्तित्व का अर्थ है — केवल ज्ञान का अनुभव। ज्ञान मे किसी दूसरी भावना का मिश्रण हुआ कि वह सवेदन बन गया। ज्ञान का धरातल छूट गया। केवल ज्ञान का अनुभव करना अपने अस्तित्व का अनुभव करना है। अपना अस्तित्व उससे पृथक् नही है। मैं ज्ञान का अनुभव कर रहा हू, इसका अर्थ है कि जहा से ज्ञान की रश्मिया आ रही है उस आत्म-सत्ता का अनुभव कर रहा हू। क्योकि आत्मा और ज्ञान भिन्न नही हैं। केवल ज्ञान का प्रयोग करने का अर्थ है—अपने आपको जानना और अपने आपको जानने का अर्थ है —केवल ज्ञान का प्रयोग करना। इस अर्थ मे केवल ज्ञान का प्रयोग और आत्म-दर्शन एक ही बात है।

ज्ञान की निर्मल धारा मे जब राग और द्वेष का कीचड मिलता है, अह और मोह की कलुषता मिलती है, तब वह केवल ज्ञान या शुद्ध ज्ञान की धारा सवेदन की धारा बन जाती है। इस धारा मे न शुद्ध चैतन्य का अनुभव होता है और न आत्म-दर्शन होता है।

ज्ञान और सवेदन—यह कर्मवाद की पृष्ठभूमि है।

अविभक्त बगाल मे चौबीस परगना जिला था। उस जिले मे एक गाव है कोल्हू। वहा एक व्यक्ति रहता था। उसका नाम था भूपेशसेन। वह बंगाली गृहस्थ था। बहुत बडा भक्त था। इतना बडा भक्त कि जब वह भक्ति मे बैठता तब तन्मय हो जाता। बाहरी दुनिया से उसका संबन्ध टूट जाता। एक दिन वह भक्ति मे बैठा और तन्मय हो गया। बाहर का भान समाप्त हो गया। अन्तर् मे पूरा जागृत किन्तु बाहर मे सुप्त। एक व्यक्ति आया और चिल्लाया —"भूपेश! क्या कर रहे हो? उठो और सभलो।' वह बहुत जोर से चिल्लाया। किन्तु भूपेश को कोई पता नही चला। उसने भूपेश का हाथ पकड झकझोरा, तब भूपेश ने आख खोली और कहा— 'कहिए, क्या बात है?' आगन्तुक बोला—'मुझे पूछते हो क्या बात है? यहा आख मूदे बैठे हो। तुम्हे पता नही, तुम्हारे इकलौते बेटे को साप काट

गया और वह तत्काल ही मर गया।' भूपेश ने कहा—'जो होना था सो हुआ।' आगन्तुक बोला—'अरे! तुम कैसे पिता? मैंने तो दुःख का संवाद सुनाया और तुम वैसे ही बैठे हो? लगता है कि पुत्र से तुम्हे प्यार नही है। तुम्हे शोक क्यो नही हुआ? तुम्हे चिंता क्यो नही हुई? तुम्हे दु.ख क्यो नही हुआ? तुम्हारी आखो से दो आसू क्यो नही छलक पडे?' भूपेश ने कहा—'जिस दिन बेटा आया था तो मुझे पूछकर नही आया था और आज वह लौट गया तो मुझे पूछ कर नही लौटा। उस दिन मैंने कुछ नही किया था। आज भी मुझे कुछ नही करना है। यह जन्म और मरण की अनिवार्य शृखला है, जिसमे मेरा हाथ नही है। मनुष्य आता है, चला जाता है। तुम्हे इतनी क्या चिन्ता है?' आगन्तुक चुप हो गया। उसके पास बोलने के लिए कुछ नही बचा। कुछ क्षण रुककर वह बोला 'अब उसकी चिता जलानी है, साथ चलो।' भूपेश उसके साथ गया। पुत्र की अर्थी श्मशान मे पहुची। चिता मे पुत्र को सुला, आग लगाकर कहा—'बेटे, तुम जिस घर से आए थे, उसी घर मे जा रहे हो। आज से हमारा सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया है।

यह घटना का केवल ज्ञान है। इसके साथ संवेदन का कोई तार जुडा हुआ नही है। जो घटित हुआ, उसे उसी रूप मे स्वीकार किया गया है। मनुष्य जब इस स्थिति में पहुच जाता है, तब ज्ञानी की भूमिका प्रशस्त हो जाती है। भगवान् महावीर की वाणी मे इसी का नाम संवर है। जहा केवल ज्ञान रहता है, केवल आत्मा की अनुभूति रहती है, वहा विजातीय तत्त्व का आकर्षण बन्द हो जाता है।

कर्म का वर्तुल

आत्मा की दो स्थितियां हैं—एक अस्वीकार की और दूसरी स्वीकार की। केवल ज्ञान का अनुभव होना अस्वीकार की स्थिति है। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव की अवस्था मे विजातीय तत्त्व का कोई प्रवेश, संक्रमण या प्रभाव नही होता। संवेदन स्वीकार की स्थिति है। सवेदन के द्वारा हमारा बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क होता है। हम बाहर से कुछ लेते है और उसे अपने साथ जोड़ते हैं। जोडने की भावधारा का नाम 'आश्रव' और विजातीय तत्त्व के जुडने का नाम 'बंध' है। आत्मा के साथ जुडा हुआ विजातीय तत्त्व, परिपक्व होकर अपना प्रभाव डालता है, तब उसका नाम 'कर्म' हो जाता है। वह अपना प्रभाव दिखाकर विसर्जित हो जाता है। कोई भी विजातीय तत्त्व आत्मा के साथ निरन्तर चिपका नही रह सकता। या तो वह अवधि का परिपाक होने पर अपना प्रभाव दिखलाकर स्वयं चला जाता है या प्रयत्न के द्वारा उसे विलग कर दिया जाता है। यह

विलग करने का प्रयत्न 'निर्जरा' है । तपस्या से कर्म निर्जीर्ण होते हैं, इसलिए उसका (तपस्या का) नाम निर्जरा है। निर्जरा का चरमविन्दु मोक्ष है । मोक्ष का अर्थ है—केवल आत्मा । आत्मा और पुद्गल का जो योग है, वह वन्धन है, संसार है । केवल आत्मा के अस्तित्व का होना, पुद्गल का योग न होना ही मोक्ष है। इसकी अनुभूति धर्म के हर क्षण मे की जा सकती है ।

आश्रव और संवर, वध और निर्जरा—इन चार तत्त्वो को समझने पर ही कर्म की वास्तविकता को समझा जा सकता है। केवल चैतन्य का अनुभव होना सवर है। चैतन्य के साथ राग-द्वेष का मिश्रण होना आश्रव है। इसके द्वारा कर्म परमाणु आकर्षित होते है। वे चैतन्य को आवृत करते हैं ज्ञान और दर्शन की क्षमता पर आवरण डालते है। वे आत्मा के सहज आनन्द को विकृत कर, उसके दृष्टिकोण और चरित्र मे विकार उत्पन्न करते है। वे आत्मा की शक्ति को स्खलित करते हैं। कुछ कर्म-परमाणु शरीर-निर्माण और पौद्गलिक उपलब्धि के हेतु वनते है। इस प्रकार आश्रव वध का निर्माण करता है और वध पुण्य-कर्म और पाप-कर्म के द्वारा आत्मा को प्रभावित करता है। आत्मा केवलज्ञान के अनुभव की अवस्था को प्राप्त नही होता तव तक वह वर्तुल चलता ही रहता है।

जीव मे भी अनन्त शक्ति है और पुद्गल मे भी अनन्त शक्ति है । जीव मे दो प्रकार की शक्ति होती है—

१ लब्धिवीर्य—योग्यतारूप शक्ति ।

२ करणवीर्य - क्रियात्मक शक्ति ।

गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—'भंते ! जीव कांक्षा-मोहनीय कर्म का वध करता है ?'

भगवान्—करता है ।'

'भंते कैसे ?'

'प्रमाद से ।'

'भंते ! प्रमाद किससे होता है ?'

'योग (मन, वचन और काया की प्रवृत्ति) से ।'

'भंते ! योग किससे होता है ?'

'वीर्य (प्राण) से ।'

'भंते ! वीर्य किससे होता है ?'

'शरीर से ।'

'भंते ! शरीर किससे होता है ?'

'कर्म-शरीर से ।'

'भंते ! कर्म-शरीर किससे होता है ?'

'जीव से ।'

आप उल्टे चलिए। जीव से शरीर, शरीर से क्रियात्मक शक्ति, क्रियात्मक शक्ति से योग, योग से प्रमाद और प्रमाद से कर्म-वंध –यह एक वर्तुल है ।

कर्म की कर्त्ता आत्मा है या कर्म ? इस प्रश्न पर दो अभिमत हैं। सूत्रकार की भाषा मे कर्म की कर्त्ता आत्मा है । आचार्य कुन्दकुन्द की भाषा मे कर्म का कर्त्ता कर्म है। ये दोनो सापेक्ष दृष्टिकोण हैं। इनमे तात्पर्य-भेद नही है। मूल आत्मा (चिन्मय अस्तित्व) और आत्मपर्याय (मूल आत्मा के निमित्त से निष्पन्न अवस्थाए)—ये दो वस्तुए है। इन्हे हम अभेद और भेद—दोनो दृष्टियो से देखते है। जव हम अभेद की दृष्टि से देखते हैं तो कहा जाता है—आत्मा कर्म की कर्त्ता है। और जव हम भेद की दृष्टि से देखते है तव कहते है—कर्म कर्म का कर्त्ता है। कर्म का कर्त्ता कषाय-आत्मा है। वह मूल आत्मा का एक पर्याय है। यदि मूल आत्मा कर्म की कर्त्ता हो तो वह कभी भी कर्म का अकर्त्ता नही हो सकती। उसका स्वभाव चैतन्य है, इसलिए वह चैतन्य की ही कर्त्ता हो सकती है। कर्म पौद्गलिक है, अचेत है। वह उसकी कर्त्ता नही हो सकती। मूल आत्मा के आयतन मे कपाय-आत्मा (राग और द्वेप) का वलय है। उससे कर्म-पुद्गलो का आकर्षण होता है। वे कपाय को पुष्ट करते है। इस प्रकार कपाय से कर्म और कर्म से कपाय चलता रहता है। मिथ्या दृष्टिकोण, आकाक्षा और आत्म-विस्मृति—ये तीनो आत्म-पर्याय भी कर्म के कर्त्ता हैं। किन्तु वास्तव मे ये सव कर्म के उपजीवी है। मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति भी कर्म की कर्त्ता है। किन्तु उसमे कर्म-पुद्गलो को वाधकर रखने की क्षमता नही है। कपाय के क्षीण हो जाने पर केवल प्रवृत्ति के द्वारा जो कर्म-पुद्गल का प्रवाह आता है, वह पहले क्षण मे कर्म-शरीर से जुडता है, दूसरे क्षण मे मुक्त होकर तीसरे क्षण मे निर्जीण हो जाता है। ठीक इसी तरह जैसे सूखी रेत भीत पर डाली गई, भीत का स्पर्श किया और नीचे गिर गई।

कर्म की तीन अवस्थाएं होती हैं—स्पृष्ट, वद्ध और वद्ध-स्पृष्ट ! कपाय का वलय टूट जाता है तव कोरी प्रवृत्ति से कर्म आत्मा से स्पृष्ट होते हैं। कर्म दीर्घकालीन या प्रगाढ वध कपाय के होने पर ही होता है। हमारी वहुत सारी अनुभूतियां कपाय-चेतना की अनुभूतिया है। आवेश, अहकार, प्रवंचना, लालसा—ये सव कपाय की ऊर्मिया है। भय, शोक, घृणा, वासना—ये सव कपाय की उपजीवी ऊर्मियां हैं। इन ऊर्मियो की अनुभूति के क्षण क्षुब्ध और उत्तेजनापूर्ण होते है। जिस क्षण हम केवल चेतना की अनुभूति करते हैं, वह शान्त-कपाय का क्षण होता है। जिन क्षणो मे हम सवेदन करते है, उनमे प्रत्यक्षत. या परोक्षत. चेतना कपाय-मिश्रित होती है।

सन्त रविया के घर एक फकीर आया। उसने मेज के पास पडी पुस्तक को देखा उसके पन्ने उलटने शुरू किए। एक पन्ने पर लिखा था—'शैतान से नफरत करो' रविया ने उसे काट दिया। फकीर बोला—'यह क्या ? इस पवित्र पुस्तक का वाक्य किसने काटा ?' सत रविया ने कहा—'यह मैंने काटा है।' फकीर ने पूछा—'क्यो ?' रविया ने कहा—'अच्छा नही लगा।'

'यह कैसे हो सकता है कि पवित्र पुस्तक की बात अच्छी न लगे ? क्या यह सही नही है ?'—फकीर ने पूछा। सत रविया ने कहा—'एक दिन मुझे भी सही लगता था, किन्तु आज लगता है कि सही नही है।'

वह कैसे ? फकीर ने पूछा।

सत रविया ने कहा—जब तक मेरा प्रेम जागृत नही था, मेरी प्रेम की आख खुली नही थी, मुझे भी लगता था कि शैतान से नफरत करो, प्यार नही—यह वाक्य बहुत सही है। किन्तु अब मैं क्या करू ? मेरी प्रेम की आंख खुल गई है। अब घृणा करने के लिए मेरे पास कुछ भी नही बचा है। मैं घृणा कर ही नही सकता। प्रेम की आख यह भेद करना नही जानती कि इसके साथ प्रेम करो और इसके साथ घृणा।'

हम जब कषाय-चेतना मे होते हैं तब किसी को प्रिय मानते है और किसी को अप्रिय। किसी को अनुकूल मानते है और किसी को प्रतिकूल। हमारी कषाय-चेतना शान्त होती है, तब ये सब विकल्प समाप्त हो जाते हैं। फिर कोरा ज्ञान ही हमारे सामने शेष रहता है। उसमे न कोई प्रिय होता है और न कोई अप्रिय। न कोई इष्ट होता है और न कोई अनिष्ट। न कोई अनुकूल होता है और न कोई प्रतिकूल। इस स्थिति मे कर्म का बन्ध नही होता।

कषाय

चेतना पर पहला प्रहार तब होता है, जब भेद ज्ञान का विवेक जागृत होता है। आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है—यह विवेक जब अपने वलय का निर्माण करता है तब कर्म-शरीर से लेकर कषाय तक के सारे वलय टूटने लग जाते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने बहुत ही सत्य कहा है—

> भेदविज्ञानतः सिद्धाः, सिद्धा ये किल केचन।
> तस्यैवाभावतो बद्धाः बद्धा ये किल केचन॥

—इस ससार मे वे ही लोग कर्म से बद्ध है, जिनमे भेद-विज्ञान का अभाव है। आत्मा की उपलब्धि उन्ही व्यक्तियो को हुई है जिनका भेद-विज्ञान सिद्ध हो गया, अचेतन से चेतन की सत्ता अनुभव मे आ गई।

ऐसा होते ही कर्म का मूल हिल उठता है। जिसने अचेतन और चेतन

का भेद समझ लिया उसने कर्म और कषाय को आत्मा से भिन्न समझ लिया। समझ कर्म के मूल स्रोत पर प्रहार करती है। जिस कषाय से कर्म आ रहे हैं, उसके मूल पर कुठाराघात करती है।

कर्म-बंधन को तोड़ने का मूल-हेतु भेद का विज्ञान है, तो कर्म-बंध का मूल-हेतु भेद का अविज्ञान है। आचार्य अमृतचन्द्र की भाषा को उलटकर कहा जा सकता है—

भेदाविज्ञानतो बद्धाः बद्धा ये किल केचन ।
तस्यैवाभावतः सिद्धा, सिद्धा ये किल केचन ॥

इस ससार मे वे ही लोग कर्म से बद्ध है जिनमे भेद-विज्ञान का अभाव है। आत्मा की उपलब्धि उन्ही व्यक्तियो को हुई है जिनका भेद-विज्ञान सिद्ध हो गया, अचेतन से चेतन की सत्ता अनुभव मे आ गई।

मूल आत्मा और उसके परिपार्श्व मे होने वाले वलयो का भेद-ज्ञान जैसे-जैसे स्पष्ट होता चला जाता है, वैसे-वैसे कर्म-बन्धन शिथिल होता चला जाता है। जिन्हे भेद-ज्ञान नही होता, मूल चेतना और चेतना वलयो की एकता की अनुभूति होती है, उसका बधन तीव्र होता चला जाता है। कर्म पुद्गल है और वह अचेतन है। अचेतन चेतन के साथ एकरस नही हो सकता। हमारी कषाय-आत्मा ही कर्म-शरीर के माध्यम से उसे एकरस करती है। मुक्त आत्मा के साथ-साथ पुद्गल एकरस नही होता, क्योकि उसमे केवल शुद्ध चैतन्य की अनुभूति होती है। शुद्ध चैतन्य की अनुभूति का क्षण कर्म-शरीर की विद्यमानता मे 'सवर'—कर्म-पुद्गलो के सम्बन्ध को रोकने वाला और उसके (कर्म-शरीर के) अभाव मे आत्मा का स्वरूप होता है। कषाय-मिश्रित चैतन्य की अनुभूति का क्षण आश्रव है। वह कर्म पुद्गलो को आकर्षित करता है। यहा जातीयसूत्र कार्य करता है। सजातीय सजातीय को खीचता है। कषाय-चेतना की परिणतिया पुद्गल-मिश्रित हैं। पुद्गल पुद्गल को टानता है। यह तथ्य हमारी समझ मे आ जाए तो हमारी आत्म-साधना की भूमिका बहुत सशक्त हो जाती है। हम अधिक से अधिक शुद्ध चैतन्य के क्षणो मे रहने का अभ्यास करे जहा कोरा ज्ञान हो, संवेदन न हो। यह साधना की सर्वोच्च भूमिका है। इसलिए जैन आचार्यों ने ध्यान के लिए 'शुद्ध उपयोग' शब्द का प्रयोग किया है। 'शुद्ध उपयोग' अर्थात् केवल चैतन्य की अनुभूति। साधना के अभाव मे कर्म का प्रगाढ बंध होता है और साधना के द्वारा उनकी ग्रन्थि का भेदन होता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि साधना के रहस्य को समझे बिना कर्म के रहस्य को नही समझा जा सकता और कर्म के रहस्य को समझे बिना साधना के रहस्य को नही समझा जा सकता। हम कर्म-पुद्गल की जिन धाराओ को ग्रहण करते हैं, उन्हें अपनी क्रियात्मक शक्ति के द्वारा ही ग्रहण करते है। उस समय हमारी चेतना की

परिणति भी उसके अनुकूल होती है। आन्तरिक और वाह्य परिणतियो मे सामंजस्य हुए विना दोनों मे सम्वन्ध स्थापित नही हो सकता। जैन दर्शन ने कर्मवाद की जो मीमासा की है, उसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन अभी नही हुआ है। यदि वह हो तो मनोविज्ञान और योग के नए उन्मेष हमारे सामने आ सकते हैं तथा जैन साधना-पद्धति का नया रूप भी प्रस्तुत हो सकता है। हम जैसी भावना करते हैं, वैसी ही हमारी परिणति होती है। जैसी परिणति होती है, वैसे ही पुद्‌गलो को हम ग्रहण करते है। उन पुद्‌गलो का अपने-आप मे परिपाक होता है। परिपाक के वाद उनकी जो परिणति होती है, वही हमारी आन्तरिक परिणति हो जाती है। यह एक शृखला है। एक व्यक्ति ने ज्ञान के प्रति अवहेलना का भाव प्रदर्शित किया, ज्ञान की निन्दा की ; ज्ञानी की निन्दा की, उस समय उसकी परिणति ज्ञान-विमुख हो गई। उस परिणति-काल मे वह कर्म-पुद्‌गलो को ग्रहण करता है। वे कर्म-पुद्‌गल आत्मा की सारी शक्तियो को प्रभावित करते है। किन्तु ज्ञान-विरोधी परिणति मे गृहीत पुद्‌गल मुख्यतया ज्ञान को आवृत करेंगे। उनका परिपाक ज्ञाना-वरण के रूप मे होगा। इस प्रकार हम सारे कर्मो की मीमामा करते चलें। जिसकी चेतना की परिणति यदि ठगने की होती है तो उस समय ग्रहण किए जाने वाले कर्म-पुद्‌गल अनुभव दशा मे उसके चरित्र को विकृत वनाते हैं। उसकी परिणति यदि दूसरे को कष्ट देने की होती है तो उस समय ग्रहण किये जाने वाले कर्म-पुद्‌गल अनुभव दशा मे उसके सुख मे वाधा डालते हैं। यह परिणति का सिद्धान्त है। हम किस रूप मे परिणत होते हैं, किस प्रकार की क्रियात्मक शक्ति के द्वारा पुद्‌गल-धारा को स्वीकार करते है, इसका ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके आधार पर ही वह जीवन की सफलता का निर्धारण कर सकता है, जीवन-सघर्ष मे आने वाली वाधाओ को पार कर सकता है।

जिस व्यक्ति को यह लगे कि मुझे ज्ञानावरण अधिक सता रहा है, उसे ज्ञानावरण को क्षीण करने की साधना का मार्ग चुनना चाहिए। किसी को मोह अधिक सताता है, किसी को क्षमताओ का अवरोध पैदा होता है — ये भिन्न-भिन्न समस्याए है। साधना के द्वारा इसका समाधान पाया जा सकता है। क्रोध पर चोट करनी हो तो एक प्रकार की साधना करनी होगी। और यदि मन पर चोट करनी हो तो दूसरे प्रकार की साधना करनी होगी। जिस समस्या से जूझना है, उसी के मूल पर प्रहार करने वाली साधना चुननी होगी। यह वहुत सूक्ष्म पद्धति है। रहस्य हमारी समझ मे आ जाए तो जीवन की समस्याओ को सुलझाने मे हम वहुत सफल हो सकते हैं।

आत्मा और परमात्मा

'संपिक्खए अप्पगमप्पएणं'

—आत्मा से आत्मा को देखो, परमात्मा वन जाओगे।

नमि राजर्षि प्रव्रजित हो रहे थे। एक वूढा ब्राह्मण आकर वोला—'राजर्षि! तुम प्रव्रजित हो रहे हो, राज्य को छोड संन्यासी वन रहे हो? क्या देख नही रहे हो कि तुम्हारी मिथिला, तुम्हारा अन्तःपुर, तुम्हारा राजभवन—ये सारे के सारे धांय-धाय जल रहे हैं। इनको आग लगी है। जरा आख उठाकर देखो तो सही कि यह क्या हो रहा है?'

राजर्षि ने शान्तभाव से कहा—'ब्राह्मण! मैं देख रहा हूं। मेरी मिथिला नही जल रही है। मेरा अन्तःपुर और मेरा राजभवन भी नही जल रहा है। मैं जहा हूं वहां कुछ भी नही जल रहा है। जहा कोई आग नही है, कोई चिनगारी नही है और कोई चिनगारी डालने वाला भी नही है, जहां कोई जलने वाला भी नही है और जलाने वाला भी नही है, मैं वहां हू। मैं सुख से जी रहा हू, सुख से रह रहा हूं। मेरी राजधानी जल नही सकती। मेरा प्रासाद जल नही सकता। मेरी सम्पदा को कोई नही जला सकता। मिथिला जल रही है, जले उसमे मेरा क्या?'

राजर्षि के उत्तर ने ब्राह्मण को विस्मय मे डाल दिया। मिथिला जल रही थी या नही जल रही थी, यह कोई महत्त्व की वात नही थी और वह सचमुच नही जल रही थी। यह एक कसौटी थी। कसौटी करने वाला था ब्राह्मण और वह कसौटी कर रहा था उस राजर्षि की जो घर छोड़कर जा रहा था। सव कुछ छोडकर जा रहा था। ब्राह्मण जानना चाहना था कि राजर्षि वास्तव में सव कुछ छोड़ रहा है या भावावेश मे छोडने का वहाना कर रहा है। वहुत वार ऐसा होता है कि हम छोडने का वहाना करते हैं और छूटता कुछ भी नही। स्मृति का भार और अधिक सिर पर लद जाता है। छोडने की स्मृति सताने लगती है। तो क्या नमि राजर्षि सचमुच छोड-कर चला जा रहा है या स्मृति का भार ढोने जा रहा है? वासना नही छूटती, अहं नही छूटता तो छोड़ने का वहाना मात्र होता है, वास्तव मे कुछ भी नही छूटता। किन्तु राजर्षि सचमुच छोड़कर चले जा रहे थे। वे अपनी चेतना मे लीन हो गये थे। उन्होंने संकलनात्मक मन का विसर्जन कर दिया

था। वे चेतना से बाहर किसी पदार्थ पर ध्यान दे सकें, वैसा मन उनके पास नही रहा था। हम सोच सकते हैं कि मिथिला जल रही हो और राजर्षि उसे आख उठाकर देखने के लिए भी तैयार न हो, यह अव्यावहारिक बात है व्यवहार उन लोगो के लिए है जो व्यवहार के धरातल पर जीते हैं। चेतना के धरातल पर जीने वाले लोग उसकी गहराई को देखते हैं और उसी के आधार अपना निर्णय लेते है। व्यवहार के निर्णय उन्हे मान्य नही होते। व्यवहार पर जीने वाले लोगो को चेतना की गहराई पर होने वाले निर्णय मान्य नही होते। दोनो की मान्यताए भिन्न होती हैं। इसमे कोई सदेह नही कि चेतना की गहराई मे जाने पर जलने की बात समाप्त हो जाती है। समस्या है चेतना की गहराई मे जाने की। जो चेतना की गहराई मे चला जाता है वह सचमुच परमात्मा बन जाता है।

चेतना के दो छोर है—एक आत्मा और दूसरा परमात्मा। एक बीज और दूसरा विस्तार। आपने देखा होगा कि बरगद का बीज कितना छोटा होता है और आपने बरगद के विस्तार को भी देखा होगा, वह कितना बडा होता है। नन्हा-सा बीज उतना फैल जाता है, उसकी कल्पना होना भी कठिन है। आत्मा बरगद का बीज है और परमात्मा उसका विकास। आत्मा का लक्ष्य है परमात्मा होना। यह लक्ष्य आरोपित नही है, किन्तु सहज है। उसकी सिद्धि मे बहुत विघ्न है। इसलिए यह दूरी एक साथ ही नही पट जाती। उसके लिए आत्मा को एक लम्बी यात्रा करनी होती है। इस यात्रा के पहले चरण मे अपने अस्तित्व का बोध होता है। आत्मा क्या है? वह कहा से आई है? वह कैसे उत्पन्न हुई है? ये उलझे हुए प्रश्न है। ये सुदूर अतीत मे ले जाते है—इतने सुदूर अतीत मे कि उसका आदि-बिन्दु खोजना कठिन है।

आत्माओ का एक अक्षय-कोष है जिसमे से वे निकलती रहती हैं। वह है वनस्पति। इसमे अनन्त-अनन्त आत्माए होती हैं। वनस्पति की एक श्रेणी है। उसका नाम है 'अव्यवहार राशि।' उसमे ऐसी अनन्त-अनन्त आत्माए है जिनका कभी विकास नही हुआ। वे अनादिकाल से उसी योनि मे रह रही है। काल-मर्यादा, नियति और कर्म का समुचित योग होने पर कोई आत्मा उस राशि से निकलकर 'व्यवहार राशि' मे आती है। यहां उसका विकास प्रारम्भ हो जाता है। वह एकेद्रिन्य से विकसित होते-होते पचेन्द्रिय और मनुष्य की अवस्था मे पहुच जाती है। 'अव्यवहार राशि' की आत्माए अविकसित और 'व्यवहार राशि' की आत्माए विकसित होती हैं। 'व्यवहार राशि' एक नन्ही-सी बूद है और 'अव्यवहारराशि' एक महान् समुद्र है, अथाह समुद्र जिसका कोई आर-पार नही है। वहां कोई भाषा

नही, चिन्तन नही, स्मृति नही, कल्पना नही, अभिव्यक्ति का कोई साधन नही। 'व्यवहार राशि' मे भाषा है, चिन्तन है, स्मृति है, कल्पना है, अभिव्यक्ति के साधन हैं।

आत्मा की शक्ति समान है। 'अव्यवहार राशि' की आत्मा मे जो शक्ति है वही 'व्यवहार राशि' की आत्माओ मे है। दोनो मे शक्ति का कोई अन्तर नही है। अन्तर है केवल अभिव्यक्ति का। 'अव्यवहार राशि' की आत्मओ मे चेतना की केवल एक रश्मि प्रकट होती है। वह है स्पर्श-बोध। हमारे जागरित व्यवहार का प्रारम्भ वाणी मे होता है। वाणी नही तो व्यवहार नही, वाणी है तो व्यवहार है। हमने जैसे ही 'अव्यवहार राशि' को पार कर 'व्यवहार राशि' मे प्रवेश किय वैसे ही हमे सर्वप्रथम भाषा की उपलब्धि हुई, रसनेन्द्रिय का विकास हुआ। उस रसनेन्द्रिय से स्वादानुभूति और भाषा दोनो का कार्य सम्भाला। चेतना की दूसरी रश्मि, दूसरी किरण फूट पडी। हमने बोलना आरम्भ किया और स्वाद का अनुभव किया हम व्यवहार के जगत् मे आ गए। हम अपनी चेतना को प्रकट करने की स्थिति मे आ गए। 'अव्यवहार राशि' मे हम चेतना को प्रकट नही कर पा रहे थे। जैसे ही हम 'व्यवहार राशि' के जगत् मे आए वैसे ही हमने यह जानना शुरू कर दिया कि हमारा भी अस्तित्व है। हम भी है। अपने अस्तित्व को प्रकट करने के लिए वाणी मुखर हो गई। हम दो इन्द्रिय वाले हो गए।

अब हमारे लिए विकास का स्रोत खुल गया। हमने सामाजिक जगत् को निकट से जानना प्रारम्भ किया। हमे चेतना कि एक किरण और मिली। उससे हमने गन्ध का अनुभव किया। हम तीन इन्द्रिय वाले हो गए। हमने सूघकर बाह्य जगत् से सम्बन्ध स्थापित करना सीख लिया। हमने अनुभव किया कि फूलो मे गन्ध होती हैं केवल फूलो मे ही नही, मनुष्य में भी गध होती है। इस जगत् की कोई वस्तु ऐसी नही, जिसमे गंध न हो।

हम और आगे चले। चेतना की चौथी किरण प्रस्फुटित हुई उसके द्वारा हमने अपने जगत् को देखा। रंग को देखा, रूप को देखा। हम चकित रह गए। कितनी वस्तुए! कितने रूप! कितने आकार और कितने प्रकार! हम चार इन्द्रिय वाले हो गए।

हमारा विकास-क्रम और आगे बढा। हमे श्रोत की उपलब्धि हुई। हमने सुनना प्रारम्भ किया। व्यवहार जगत् के पहले चरण मे हमने बोलना अर्थात् सुनाना शुरू किया और चौथे चरण मे सुनना शुरू कर दिया। इस चरण मे हमने शब्द का दान और आदान—दोनो प्रारम्भ कर दिए। अब हमारा व्यवहार-जगत् के साथ पूर्ण सम्पर्क स्थापित हो गया हम पांच इन्द्रिय वाले हो गए। हमारी चेतना की खिड़कियां खुल गईं, पांचो रश्मियां

प्रस्फुटित हो गईं ।

चेतना के सूर्य की अनन्त रश्मिया हैं । उनमे से पाच रश्मिया हमे उपलब्ध हो गईं । हमारे केन्द्र मे प्रकाश ही प्रकाश है उस पर एक आवरण पडा है जो प्रकाश को बाहर की ओर जाने मे रोक रहा है । जैसे-जैसे उस लोहावरण को हटाकर हम आगे बढते है, वैसे-वैसे हमारी चेतना की रश्मिया प्रकाश देने लग जाती है एक बार विकास का क्रम प्रारम्भ होता है, वह रुकता नही । वह आगे से आगे बढता चला जाता है । हमारे विकास का क्रम आगे बढा, हमने एक दरवाजा खोल लिया । पहले खिडकिया खुली थी और अब एक दरवाजा खुल गया । हम मनवाले प्राणी हो गए । मन बहुत बडा दरवाजा है । इन्द्रिय छोटी खिडकिया है । मैं देखता हू । मेरे सामने एक आदमी बैठा है । आख ने देखा । उसका काम पूरा हो गया । यह पहले क्या था ? आख नही जानती । बाद मे क्या होगा—यह भी नही जानती । मन का काम पहले-पीछे को जानना भी है । वह भूत और भविष्य को भी जानता है । इन्द्रिया केवल वर्तमान को जानती है । मन, भूत भविष्य और वर्तमान—तीनो को जानता है । इन्द्रियो के द्वारा प्राप्त जानकारी का सकलन करना मन का काम है । उसके बिना पृथक्-पृथक् जाने हुए ज्ञान का सकलन नही हो सकता । १, १, १—प्रत्येक अक के अर्ध-विराम लगाते चले जाइये, प्रत्येक अक अलग रहेगा । अर्ध-विराम के न होने पर ही वे ग्यारह या एक सौ ग्यारह बन सकते है । यह जोड मन का काम है । वह अतीत की घटना से निष्कर्ष निकालता है, वर्तमान को बदलता है और भविष्य को अपने अनुकूल ढालने का प्रयत्न करता है । वह अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना करता है । यदि स्मृति और कल्पना नही होती तो हमारी दुनिया बहुत छोटी होती । हमारी दुनिया का विस्तार स्मृति और कल्पना के आधार पर हुआ है ।

मन और बुद्धि का विकास होने पर मनुष्य ने सोचा—मैं कौन हू ? मेरे सामने है वह कौन है?' अस्तित्व की खोज शुरू हो गई । उस खोज ने हमे आत्मा और परमात्मा की चर्चा तक पहुचा दिया । जब मन और बुद्धि हमारे साथ नही थे तब आत्मा और परमात्मा की कोई चर्चा नही थी । वह चर्चाहीन जगत् था । चर्चा के जगत् मे हमने प्रश्न पूछे अपने से कम दूसरो से अधिक । उनके उत्तर मिले, अपने से कम और दूसरो से अधिक । हमारी चेतना इतनी विकसित नही हुई कि हम अध्यात्म की गहराई मे जाकर अपने आप से पूछे और अपने आप उसका समाधान पा जाए । समाधान का उपाय है अपने आप से पूछना । जो मनुष्य अपने आप मे समाधान उसे वह मिल जाता है । जो दूसरे से समाधान लेना चाहता है, बहुत जटिल है ।

एक युवक बोधिधर्म के पास गया। वे बहुत बडे साधक थे युवक ने पूछा—'भंते ! मैं कौन हूं ?' बोधिधर्म ने एक चांटा मारा और भर्त्सना के स्वर मे कहा— 'चले जाओ, मूर्ख !' युवक विस्मय मे डूब गया। इतना बडा साधक, इतना बड़ा ज्ञानी और मैने छोटा-सा प्रश्न पूछा और उसका उत्तर मिला चांटा। वह दूसरे साधक के पास जाकर बोला—'भंते ! मैंने बोधिधर्म से पूछा कि मै कौन हूं ? उन्होंने उत्तर नही दिया, मुझे चांटा मारा।' साधक ने कहा—'बोधिधर्म ने तुम्हे चाटा मारा और यदि वही प्रश्न मुझसे पूछते तो मैं डंडा मारता।' वह कुछ समझ नही पाया, परेशान होकर चला गया। दूसरे दिन युवक फिर बोधिधर्म के पास गया। उसने कहा— भंते ! मैंने आपसे प्रश्न पूछा था। आपने उसका कोई उत्तर नही दिया और चाटा मारा। क्या उत्तर देने का यह भी कोई तरीका है ? भंते ! आपने यह क्या किया ?' बोधिधर्म ने कहा—'इस प्रश्न को मत छेडो। यदि छेडोगे तो कल चांटा पडा था और आज कुछ और पड सकता है।' युवक घबरा गया। वह भर्राए स्वर मे बोला—भंते ! तो मैं क्या करू ?' बोधिधर्म बोले - 'तुम मूर्ख हो।' 'मैं मूर्ख कैसे ?' युवक ने पूछा। बोधिधर्म ने कहा—'जो बात अपने से पूछनी चाहिए वह बात तुम दूसरे से पूछ रहे हो। इसलिए तुम मूर्ख हो। जाओ, यह प्रश्न अपने आप से पूछो कि मै कौन हूं ?' बात समाप्त हो गई। युवक का समाधान हो गया।

हमारी दुनिया बडी विचित्र है। जो बात अपने से पूछनी चाहिए वह दूसरो से पूछते है और जो दूसरों से पूछनी चाहिए वह अपने से पूछते है। दूसरो से पूछना चाहिए 'तुम कौन हो ?' वह हम अपने आप से पूछते है। अपने आप से पूछना चाहिए कि 'मैं कौन हूं' उसे हम दूसरो से पूछते है। 'मै कौन हूं ?'—इसका उत्तर मैं दूसरो से चाहता हूं, इसलिए उसका उत्तर नही मिलता और तब तक नही मिल सकता जब तक उसके उत्तर की खोज बाहरी जगत् मे चलेगी। 'मैं कौन हूं ?'—इसका उत्तर पाने के लिए हमने एक चरण आगे बढाया और हम चेतना को बाहर से भीतर की ओर ले गए। वहा हमे अपने अस्तित्व का अनुभव हो गया। हमारी इन्द्रिया, वाणी और मन—ये चेतना को बाहर की ओर ले जा रहे थे। हमे बाह्य-दर्शन हो रहा था। प्रज्ञा ने चेतना को भीतर की ओर मोडा तो हमे आत्म-दर्शन होने लगा। हमारी बहिर्‌आत्मा की यात्रा समाप्त हो गई और अन्तर आत्मा की यात्रा प्रारम्भ हो गई। चेतना की रश्मियो को मूल चेतना के साथ जोडने का प्रस्थान शुरु हो गया। आत्मा और परमात्मा के बीच का एक सेतु निर्मित हो गया। इस पार आत्मा और उस पार परमात्मा। दोनो के बीच का सेतु हो गया अन्तर् आत्मा।

'जो मनुष्य परमात्मा होना चाहता है उसे परमात्मा को जानना-

देखना होता है जो अर्हत् को जानता है वह अपनी आत्मा को जानता है। जो अर्हत् को नही जानता वह अपनी आत्मा को भी नही जानता।' आचार्य कुन्दकुन्द का साधना-सूत्र परमात्मा होने का मूल्यवान् सूत्र है। साधारणतया कहा जाता है कि पहले आत्मा को जानो, फिर परमात्मा को जानो। वास्तविकता यह है कि पहले परमात्मा को जानो, फिर आत्मा को जानो। परमात्मा को जाने विना आत्मा को नही जाना जा सकता।

एक पुरानी कहानी है। राजा ने चित्रकारो को आमन्त्रित किया। देश भर के चित्रकार एकत्रित हुए। राजा ने कहा—'राज्यमुद्रा वनानी है। उसमे बांग देते हुए मुर्गे का चित्र होगा। ऐसा जीवन्त चित्र वनाओ जिससे मुद्रा की श्रेष्ठता सिद्ध हो सके। सर्वश्रेष्ठ चित्र पुरस्कृत किया जाएगा।' चित्रकार वहुत प्रसन्न हुए। उन्होने राजा की सव शर्तो को स्वीकार कर लिया। कुछ दिन वाद वे चित्र वनाकर लाए और राजा के सामने प्रस्तुत किए। राजा ने देखा और प्रसन्न हुआ। उसे चित्र वहुत अच्छे लगे। उसने सोचा—'मैं कोई कलाकार तो हूं नही। किस चित्र को प्राथमिकता दी जाए, इसका निर्णय कौन करे?' राजा ने सोच-विचारकर एक वूढे चित्रकार को वुलाया। किसी समय वह राज्य का सर्वश्रेठ चित्रकार था। किन्तु अव वूढा हो चला था। राजा ने कहा—'इन चित्रो मे कौन प्रथम है, इसका निर्णय करो।' चित्रकार सारे चित्रो को ले गया। दूसरे दिन आकर वोला—'महाराज! मुद्रा मे देने लायक एक भी चित्र नही है। सव वेकार हैं।' 'यह कैसे कहते हो? चित्र वहुत सुन्दर है'—राजा ने आश्चर्य की मुद्रा मे कहा। चित्रकार वोला—'सुन्दर तो है। किन्तु आपने कहा था जीवन्त चित्र होना चाहिए। इनमे जीवन्त चित्र एक भी नही है।' राजा कठिनाई मे पड गया। 'राज्य के सारे मूर्धन्य कलाकार आ गए। उनका एक भी चित्र पसन्द नही आया तो फिर तुम वनाओ!' राजा ने कहा। चित्रकार वोला—'मैं वूढा हो गया हू, कैसे वनाऊ? फिर भी यदि आप चाहते है तो मैं चित्र वनाऊगा, पर मुझे तीन वर्ष का समय चाहिए।' 'तीन वर्ष का समय!' राजा ने विस्मय के साथ पूछा। चित्रकार ने कहा—श्रेष्ठता साधना के विना प्राप्त नही होती। तात्कालिकता काम-चलाऊ हो सकती है, किन्तु वह श्रेष्ठता का सृजन नही कर सकती।'

चित्रकार तीन वर्ष की अवधि लेकर वहा से चला गया। छह मास बीत गए। चित्रकार कभी राजा से मिला ही नही। राजा ने उसके कार्य की जानकारी लेने के लिए अपने विश्वस्त कर्मचारी को भेजा। वह चित्रकार के घर गया। वह घर मे नही मिला। खोजते-खोजते वह जंगल मे गया। उसने देखा, वहां एक वाडा है। उसमे पचासो मुर्गे है। वूढा चित्रकार मुर्गो के वीच मे वैठा है राजा के कर्मचारी ने पूछा—'क्या चित्र वन गया?' वूढा वोला—

'चित्र वना रहा हूं ।'

'कव तक वनेगा ?'

'अभी ढाई वर्ष लगेंगे।'

ढाई वर्ष वीत गए। राजा ने फिर जांच करवाई । चित्रकार को वुलाकर कहा—'चित्र लाओ ।'

'चित्र अभी वना नही है ।'

'तीन वर्ष वीत गए, फिर चित्र क्यो नही वना ? अव तक क्या किया ?'

'क्या किया, यह वताऊं ?'

'मैं अवश्य जानना चाहूंगा ।'

राजसभा मे चारो ओर मुर्गे की आवाज होने लगी। इधर-उधर मुर्गा दौडने लगा। सभासदों ने देखा, यह कैसा आदमी ? यह तो मुर्गा है। वही भाषा, वही व्यवहार और वही आचरण। राजा ने कहा—'यह क्या करते हो ?' 'महाराज ! तीन वर्षों मे मैंने क्या किया, वह वता रहा हू। मैं मुर्गा हो गया हूं।'

'मुझे तुम्हे मुर्गा नही वनाना है, मुझे मुर्गे का चित्र चाहिए ।'

मुर्गा वने विना मुर्गे का चित्र नही वना सकता ।'

'तो तुम मुर्गे वन गए ? अव चित्र लाओ।'

'चित्र वनने मे क्या कठिनाई है। आधा घंटे का काम है। तूलिका लाओ, रंग लाओ कागज लाओ, अभी चित्र तैयार कर देता हू।'

सारी सामग्री लाई गई, और देखते-देखते चित्र तैयार हो गया।

राजा ने पूछा—'क्या यह जीवन्त चित्र है ?'

महाराज ! हा।'

'इसकी कसौटी क्या है ? वे जीवन्त नही थे और यह जीवन्त क्यो है ?'

चित्रकार ने एक मुर्गा मंगाया। पहले के चित्रो को रखा और उनके सामने मुर्गे को छोडा। मुर्गा चित्रो के सामने गया और मुह फेरकर लौट आया। सवके वाद अपना चित्र रखा। उसे देखते ही मुर्गा सक्रिय हो गया। लड़ने की मुद्रा मे आ गया । उसने चित्र के मुर्गे पर आक्रमण कर दिया। चित्रकार वोला—

'महाराज ! यह जीवन्त चित्र है। मुर्गा मुर्गे से लड़ रहा है।'

'इतना जीवन्त चित्र ! इतनी जल्दी कैसे वनाया तुमने ?' राजा ने पूछा।

चित्रकार ने कहा—'महाराज ! मैंने तीन वर्ष का समय मुर्गा वनने मे लगाया। अगर मैं मुर्गा नही वनता तो जीवन्त मुर्गा नही वना पाता।'

जो स्वय देवता नही होता, वह देवता की पूजा नही कर सकता। कोई मनुष्य देवता होकर ही देवता की पूजा कर सकता है। परमात्मा की उपासना किए विना आत्मा परमात्मा नही हो सकती। परमात्मा की उपासना मे लम्वा समय लगता है, परमात्मा होने मे लम्वा समय नही लगता। जो परमात्मा को नही देखता, वह कभी परमात्मा नही वन सकता।

आत्मा के विकास की एक सीमा है। चेतना के सूर्य की अनन्त रश्मियो मे से कुछेक रश्मियां उसमे प्रकट होती है। शेष सारी परदे के पीछे रहती हैं। दूसरी सीमा यह है कि शक्ति के अनन्त स्रोतो मे से कुछेक स्रोत उसमे प्रवाहित होते है। तीसरी सीमा यह है कि उसका आनन्द विकृत रहता है। वह आनन्द को खोजती है—वस्तुओ मे, शब्दो मे और वातावरण मे भीतर मे आनन्द का अक्षय कोप होता है। उसकी ओर भी ध्यान नही जाता। क्या खाना कोई आनन्द है। आपके शरीर पर कोई फोडा हो रहा है। उस पर मरहमपट्टी की जा रही है। क्या फोडे पर मरहमपट्टी करना कोई आनन्द है। फोडे पर मरहमपट्टी करने मे थोड़े आनन्द का अनुभव होता है। कुछ आराम मिलता है। ये पेट के फोडे कुलवुलाने लगते है, यह जठराग्नि कष्ट देने लगती है, तव आदमी थोडा-सा भीतर डाल देता है। वे शान्त हो जाते है। आदमी सोचता है, वहुत आनन्द मिला। यह आनन्द है या फोडे का इलाज ? शरीर को खुजलाने मे आनन्द का अनुभव होता है। भला शरीर को खुजलाना भी कोई आनन्द है ? हमारी सीमा वन गई। जिसमे आनन्द नही है उसमे आनन्द खोजते है। जिसमे आनन्द नही है उससे आनन्द पाने का प्रयत्न करते है।

आत्मा की तीन सीमाए है—

- ज्ञान का आवरण।
- शक्ति का स्खलन।
- आनन्द की विकृति।

जैसे-जैसे हम परमात्मा की ओर वढते है, उस दिशा मे हमारा प्रयाण होता है, वैसे-वैसे ये सीमाए टूटती चली जाती हैं। आवरण समाप्त होता चला जाता है। वादलो से ढंका हुआ सूर्य प्रकट होने लग जाता है और एक दिन वह पूरा का पूरा प्रकट हो जाता है। यह है परमात्मा की स्थिति।

जैसे-जैसे हम परमात्मा की ओर वढते है, वैसे-वैसे शक्ति के अवरोध समाप्त होते चले जाते है। वे ऊवड-खावड भूमि मे होते हैं। समतल मे कोई अवरोध नही होता। समता के चरम विन्दु पर पहुंचते ही सारे गड्ढे भर जाते है और शक्ति के सारे स्रोत प्रवाहित हो जाते है। यह है परमात्मा की स्थिति।

जैसे-जैसे हम परमात्मा की ओर वढते है वैसे-वैसे आनन्द का सागर

लहरा उठता है। आवेश और एषणा के समाप्त होते ही विकृति के तूफान शांत हो जाते हैं। आनन्द के सिन्धु की ऊर्मियां आत्मा के चरण पखारने लग जाती हैं। यह है परमात्मा की स्थिति।

शिष्य ने पूछा—'गुरुदेव ! मैं परमात्मा कैसे वन सकता हूं।'

गुरु ने उत्तर दिया—'तुम परमात्मा बनना चाहते हो तो उसका ध्यान करो। उसे देखते रहो। परमात्मा का ध्यान नही करने वाला कभी परमात्मा नही बन सकता। परमात्मा वही बन सकता है जो परमात्मा को देखता है, उसका मनन करता है, उसका चिन्तन करता है ओर उसमे तन्मय रहता है।

परमात्मा के प्रति होने वाली तन्मयता आत्मा मे छिपे हुए परमात्मा के वीज को अंकुरित करती है और वे अकुर वढते-वढते स्वयं परमात्मा बन जाते है।

८

साधना का मार्ग

१. शरीर को सताना धर्म नही

अमरीकी उद्योगपति हेनरी फोर्ड जब युवक था, तब एक दिन ट्रेन से न्यूयार्क जा रहा था। त्योहार का दिन था। 'होटल भरे हुए मिलेंगे। कहां ठहरूगा ?' वह इस उधेड-बुन मे था। इतने मे ही टिकट-चेकर आ पहुचा। उसने पूछा—'टिकट है ?' युवक ने कोई उत्तर नही दिया। दूसरी वार फिर पूछा और फिर उत्तर नही दिया। तीसरी वार फिर पूछा और फिर उत्तर नही मिला। चेकर गरम हो गया। उसने उत्तेजनापूर्ण शब्द कहे। युवक ने भी कुछ तीखी बाते कही। दोनो मे झडप हो गई। चेकर ने पुलिस को बुला लिया। पुलिस उसे थाने मे ले गई। युवक रातभर थाने मे रहा। प्रात काल उसे न्यायाधीश के समक्ष प्रस्तुत किया गया। न्यायाधीश ने देखा युवक की शालीन आकृति को, उसकी वेशभूषा को और व्यवहार को। उसे ऐसा नही लगा कि इसने टिकट न ली हो। न्यायाधीश ने आश्चर्य की मुद्रा मे कहा—'तुम अच्छे युवक हो। मैं कारण नही समझ पाया कि तुमने टिकट क्यो नही लिया ?' युवक ने अपनी जेब मे हाथ डाला और फर्स्ट क्लास का टिकट न्यायाधीश के सामने रख दिया। न्यायाधीश ने कहा—भद्रपुरुष ! तुम्हारे पास टिकट था, फिर तुम थाने मे क्यो गए ?' युवक ने कहा—'मेरे पास वहुत कीमती सामान था। उसकी सुरक्षा के लिए उपयुक्त स्थान की खोज कर रहा था। फिर भला थाने से अधिक सुरक्षित स्थान कौन-सा मिलता ? मैं रातभर वहां रहा। मजे से नीद ली। मेरा सामान सुरक्षित रहा और सन्तरी बन्दूक लिये पहरा देता रहा।'

थाने मे जाने के दो अर्थ हो सकते हैं—कोई आदमी अपराध कर थाने मे जाता है और कोई आदमी माल की सुरक्षा के लिए भी थाने मे चला जाता है। युवक ने कोई अपराध नही किया था। उसके पास टिकट मौजूद था। किन्तु उसे अपनी कीमती सामान की सुरक्षा करनी थी। उसे उस समय इससे अच्छा स्थान कोई नही मिल रहा था। वह वहा चला गया।

शरीर एक कारागृह है। कुछ लोग उसमे बन्दी बने बैठे हैं और कुछ लोग अपने बहुमूल्य सामान की सुरक्षा के लिए उसमे रह रहे हैं। उस कारागृह मे रहना सबके लिए जरूरी है। पर रहने का अर्थ एक नही है।

कोई व्यक्ति कष्ट पाने के लिए उसमे रहता है और कोई कष्ट से मुक्ति पाने के लिए उसमे रहता है। साधना का सकल्प होता है—सब दु खो से छुटकारा पाना। भगवान् महावीर ने कहा—'साधना का मार्ग सब दु.खो से मुक्ति दिलाने वाला है।' साधक एक ओर उस मार्ग पर चले और दूसरी ओर दु खो को आमंत्रित करे—इन दोनों मे कोई संगति नही हो सकती। जब दु ख के वलय को तोडना है तो फिर उसका वरण नही हो सकता। काय-क्लेश का अर्थ दु खो को आमत्रित करना नही हो सकता। शरीर को सताना, उसे दु ख देना, परम धर्म नही हो सकता।

शरीर को कष्ट देना और शरीर मे कष्ट आना—ये दो बातें हैं। पहली बात, शरीर अचेतन है। अचेतन मे हमारे प्रति शत्रुता का भाव नही है। फिर हम उसे क्यो कष्ट दें ? दूसरी बात, वह हमारी प्रगति मे सहायक है। जो सहायक है उसे हम क्यो सतायें ? हम उसे इतना शक्तिशाली बनायें जिससे वह आने वाले कष्ट को झेल सके। इसीलिए भगवान् महावीर ने शरीर की साधना के दो सूत्र दिए—कायक्लेश और कायोत्सर्ग। कायक्लेश काया की सिद्धि का सूत्र है। इस जगत् मे भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि अनेक द्वन्द्व है। उन द्वन्द्वो को सहन करने की क्षमता उत्पन्न करने पर काया की सिद्धि हो जाती है। कायोत्सर्ग काया की मुक्ति का सूत्र है। शरीर का शिथिलीकरण करते-करते हम उस स्थिति मे पहुच जाते है, जहां शरीर का बन्धन नही रहकर एक शक्ति का वलय मात्र रह जाता है। यह तनावमुक्ति की साधना है। कायक्लेश मे कुछ तनाव होता है, मात्र शारीरिक। मानसिक तनाव की मुक्ति के लिए शारीरिक तनाव उत्पन्न करना और फिर उसे भी कायोत्सर्ग की साधना से विसर्जित कर देना—यह साधना का एक महत्त्वपूर्ण रहस्य है।

साधक का पहला संकल्प होता है—आत्मा और शरीर की भिन्नता का अनुभव करना। आत्मा और शरीर भिन्न है तो फिर शरीर को सताने की बात कैसे हो सकती है ? आत्मा और शरीर एक हो तो भी शरीर को सताने की बात नही हो सकती। साधना मे शरीर को सताने की बात किसी भी दृष्टि से प्राप्त नही होती। काया के साथ जुडा हुआ 'क्लेश' शब्द उलझन मे डालता है। उसी शब्द के आधार पर काया को कष्ट देने की धारणा भी बन जाती जाती है पर 'क्लेश' शब्द ध्वनित नही करता कि शरीर को कष्ट दो या प्राप्त-कष्ट को सहो। कायक्लेश एक तप है। तप की ध्वनि कष्ट देने की नहीं हो सकती। उसकी ध्वनि कष्ट सहने की हो सकती है।

मुगलो से मराठो की लडाई चल रही थी। मराठे 'गुरिल्ला' युद्ध लड़ रहे थे। वे मुगलो पर हमला करते और फिर अपने ठिकानो पर लौट आते। इस लडाई मे उन्हें काफी कठिनाइयां झेलनी पड़ी। भोजन, वस्त्र

आदि की समस्या उनके सामने वनी रहती। सर्दी का मौसम था। मराठा सैनिको के पास पूरे कपडे नही थे। एक सैनिक के कपडे फट गए। चारो ओर चिंदिया लटक रही थी। उसके मन मे जरा उदासी आ गई। वह अपनी अधीरता लिये हुए छत्रपति शिवाजी के पास पहुचा। उसने कहा—'महाराज! भयकर सर्दी पड रही है। शरीर काप रहा है। सर्दी से वचने का कोई साधन नही है। सर्दी को मैं सहन भी कर लूगा पर शरीर को भी पूरा नही ढक पा रह हू। लज्जा भी नही वच रही है। शिवाजी ने देखा, वीर सैनिक अधीर हो रहा है। उसका मन कायर हो गया। शिवाजी वोले—'वहादुर सैनिक! तुम जानते हो तुम्हारे शरीर पर घाव हैं? ये घाव क्या कहते है?' सैनिक अहकार के साथ वोला—मेरे पराक्रम की गाथा गाते है। तो वीर सैनिक! यदि तुम पूरे कपडे पहन लोगे तो ये घाव ढक जाएगे। वे कपडे तुम्हारी वीरता को ढकने वाले होगे।' सैनिक आश्वस्त होकर चला गया।

सुख-सुविधा की मनोवृत्ति वीरता के घावो को ढकने वाली होती है। जव हमारे मन मे सुख पाने का भाव पैदा होता है तव पराक्रम का भाव दव जाता है। शरीरदर्शी आदमी सुख की वात सोचता है और आत्मदर्शी आदमी हित की वात सोचता है। सुख छोटा सत्य है और हित वडा सत्य है। आदमी को पाच-दस घटा वैठे रहने मे सुख मिल सकता है, किन्तु वह हित नही है। उससे मधुमेह की वीमारी होने की सम्भावना वढ जाती है। महर्षि चरक ने 'सुखासिका' को मधुमेह का कारण वतलाया है। सुख की एक सीमा है। शरीर को सुख-सुविधा की भी अपेक्षा है। किन्तु उसका अतिरेक होना अच्छी वात नही है। वह शरीर के लिए घातक वन जाता है। इस सत्य की छाया मे हम कायक्लेश का हार्द समझ सकते है। मनुष्य मे विषय की भावना प्रवल न हो, सुख की आसक्ति तीव्र न हो, कर्त्तव्य-विमुखता का भाव जागृत न हो—इन दृष्टियो को सामने रखकर भगवान् महावीर ने कायक्लेश का विधान किया। यह तप का विधान नही है। आटे मे पानी मिलाया, वह गीला हो गया। उसकी रोटी वना ली, फिर वह गीली नही होती। आग मे तपी हुई रोटी गीली नही होती। तप से तपा हुआ शरीर गीला नही होता।

कच्चे घडे मे पानी नही डाला जा सकता। वह आग की आच से पक जाता है तव उसमे जल-धारण की शक्ति पैदा हो जाती है। क्या घडे को पकाना उसे सताना है। एक कुम्हार घडे को पका रहा है। क्या हम कहे कि वह घडे को सता रहा है? यह सताने की प्रक्रिया नही, यह पकाने की प्रक्रिया है। कायक्लेश शरीर को सताने की प्रक्रिया नही है, वह शरीर को तपाने की प्रक्रिया है। जिसका शरीर सधा हुआ नही होता वह कठिनाई को

नही झेल सकता। वज्रासन सुखकर भले न हो, हितकर अवश्य है। जिसने घुटनो को नही साधा वह वज्रासन की मुद्रा मे नही बैठ सकता। उसके घुटने टूटने लग जाते है।

जो सर्दी मे अधिक वस्त्रो से लदा रहता है, उसमे सर्दी के प्रतिरोध की क्षमता विकसित नही हो सकती। गर्मी को सहने के लिए भी शरीर को साधना होता है। शून्य मे रहना, अकेले मे रहना बहुत बडी समस्या है। अन्तरिक्ष यात्री को इन समस्याओ का सामना करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। किसी व्यक्ति को अकस्मात् अतरिक्ष यात्रा मे नही भेजा जाता। उसी व्यक्ति को वहा भेजा जाता है जो प्रशिक्षण प्राप्त कर चुका होता है।

कायक्लेश साधना के प्रशिक्षण का दूसरा पाठ है। पहला पाठ है—उपवास का प्रशिक्षण। भगवान् महावीर ने आहार के विषय मे चार निर्देश दिए थे—(१) उपावास, (२) अल्प-आहार, (३) आहार-विषयक विविध संकल्प, (४) दूध-दही आदि का परित्याग।

जैन धर्म मे उपवास की अनिवार्यता नही है। व्यक्ति की शक्ति और आन्तरिक क्षमताओं के जागरण की उपयोगिता—इन दोनो के सामजस्य पर उपवास का निर्देश है। तब तक उपवास करो जब तक मन स्वस्थ और प्रसन्न रहे। मन की पवित्रता न रहे तब उपवास की पवित्रता भी नही रहती। भोजन न करने का शरीर पर प्रभाव होता है, पर उससे आन्तरिक क्षमताओ के विकास मे पूर्ण सहयोग मिलता है। यह शरीर और मन को सताने की प्रक्रिया नही है।

कायक्लेश के विषय मे भगवान् ने तीन निर्देश दिए—आसन, आतापना और शरीर-संस्कार का परित्याग। हमारे शरीर मे अनेक शक्ति-केन्द्र है। उन्हे जागृत करने के लिए आसनो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हमारी ग्रन्थियों का नियमित स्राव मानसिक विकास के लिए आवश्यक है। आसन उस कार्य मे हमारा सहयोग करते है। सर्वांगासन कंठमणी (Thyride Glands) के स्राव को नियमित रखता है। आधा घटा सर्वांग आसन करने मे शरीर को कष्ट होता है किन्तु यह कष्ट के लिए कष्ट नहीं है। यहां कष्ट का अर्थ सुख और हित है। जिस आचरण से शरीर को कष्ट हो, सुख और हित न हो वह शरीर का संताप हो सकता है। मत्स्यासन, वज्रासन, वीरासन आदि-आदि आसनो का क्षमता के विकास मे समुचित स्थान है। इसलिए इनकी उपयोगिता को अस्वीकार नही किया जा सकता।

आतापना भी बहुत मूल्यवान् है। सूर्य का आतप शारीरिक शक्ति का ही जीवन-मन्त्र नही है, चैतन्य के प्रकाश का भी रहस्यपूर्ण मन्त्र है। इससे तैजस बढ़ता है और प्रकाशावरण क्षीण होता है। आखें खोलकर सूर्य का आतप लेना, सूर्य पर त्राटक करना बहुत लाभदायक है तो बहुत

खतरनाक भी। पहले चरण मे सूर्य की ओर पीठ कर उसका आपत लिया जाता है या लेटकर। दूसरे चरण मे खड़े होकर, सूर्य के सामने मुंह कर उसका आतप लिया जाता है। कुछ साधक प्रातःकाल मे आतप लेते हैं और कुछ मध्याह्न मे। भगवान् महावीर के युग मे सैकड़ो-सैकडो मुनि इस आतापना का प्रयोग करते थे।

२. कायोत्सर्ग

कबीर को अनुभव हुआ कि जब मैं था तब गुरु नही था, अब गुरु हैं तो मैं नही रहा। कारण बहुत साफ है कि प्रेम की गली अति सकरी है। इतनी संकरी कि उसमे दो नही समा सकते। उसमे एक ही रह सकता है, या मैं या गुरु।

शरीर और आत्मा—दोनो का अनुभव एक साथ नही हो सकता। या शरीर का अनुभव होता है या आत्मा का। हम शरीर मे रहते हुए आत्मा के अनुभव मे जाते हैं तब शरीर विसर्जित हो जाता है, कायोत्सर्ग हो जाता है आत्मा का अनुभव होना और शरीर के अनुभव का समाप्त हो जाना कायोत्सर्ग है। 'मैं शरीर हू'—यह अनूभूति जाने-अनजाने सुदीर्घकाल से चल रही है। जिस क्षण शरीर की मूर्च्छा टूट जाती है, 'मैं शरीर नही हू'—यह चेतना जागृत हो जाती है, तब कायोत्सर्ग सम्पन्न होता है। जब मौत होती है तब काया छूट जाती है, किन्तु उसका ममत्व नही टूटता। 'मैं शरीर हूं'—यह भावना नही टूटती किन्तु उसकी पकड और मजबूत होना चाहती है। मरते समय आदमी के मन मे एक विचित्र प्रकार का मोह जागता है। वह मरने से घबराता है। उसे मरने का डर लगता है। डर इस बात का है कि मेरा शरीर छूट जाएगा। जिस घर मे रहता था, वह मेरे हाथ से छूट जाएगा। मौत से हमारा कुछ बिगडता नही है। आपने एक अच्छा घर बनाया। वह पुराना हो गया, टूट-फूट गया। आपको कोई नये मे रहने का निमंत्रण दे, क्या आप उसे पसन्द नही करेंगे? क्या पुराने घर को छोड़ नये घर मे नही चले जाएंगे? आप अवश्य ही उनमे जाना चाहेगे। फिर मौत से घबराने की क्या बात है? हमारा शरीर, जो वर्षों से काम करते-करते पुराना हो जाता है, यदि वह हमसे छूटता है और नया घर प्रस्तुत होता है तो फिर घबराहट क्यो? घबराहट होने का कारण शरीर का छूटना नही किन्तु उसका ममत्व है। मन का ममत्व नहीं छूटता इसलिए मौत के क्षण मे काया के छूट जाने पर भी कायोत्सर्ग नहीं होता। जिस क्षण मूर्च्छा का बंधन शिथिल होता है उस क्षण शरीर का जाता है, कायोत्सर्ग अपने-आप सध जाता है।

कायोत्सर्ग से तनाव दूर होता है और बाहरी प्रभावो

होता है। भगवान् महावीर से पूर्व की घटना है। भगवान् पार्श्व के शिष्य साधना कर रहे थे। उनमे प्रमुख थे मुनि सुदर्शन। उस समय एक महा-मांत्रिक था। उसका नाम था सुकर्ण कापालिक। वह मन्त्र की साधना कर रहा था। उसे वलि देने के लिए सर्व-लक्षण-सम्पन्न पुरुष की अपेक्षा थी। एक दिन सुदर्शन मुनि कुछ साधुओं के साथ सुकर्ण के आश्रम के पास पहुचे। सुकर्ण के शिष्यों ने उन्हे देखा। उन्होंने सुकर्ण को सूचना दी --'अपने आश्रम के पास कुछ जैन मुनि आ रहे है। उनमे जो अग्रणी है वह सर्व-लक्षण-सम्पन्न है। उसकी वलि दी जा सकती है।' सुकर्ण ने अपने कर्मकरों को भेजा। वे सुदर्शन मुनि को पकडकर आश्रम मे ले आए। मुनि ने देखा, सामने देवी की मूर्ति है। स्थान-स्थान पर रक्त से सनी खोपडियां पडी है। वे समझ गए—मैं वलि के लिए लाया गया हूं। उनके मन मे न कोई चिन्ता और न कोई भय। उन्हे वलि की वेदी पर ले जाकर खड़ा किया गया। वे कायोत्सर्ग कर ध्यान मे लीन हो गए। सुकर्ण ने मन्त्र का उच्चारण किया। उनके मुख्य शिष्य चड ने मुनि के वध के लिए तलवार उठाई। वह गले तक पहुचते-पहुचते हाथ से गिर गई। चंड भी गिर पडा। जितने भी धूप-दीप थे वे सब गिर पड़े। सुदर्शन अपने स्थान पर खडे रहे। कुछ समय वाद कायोत्सर्ग पूरा कर उन्होने देखा कि सब लोग मूर्च्छित पड़े हैं। वे वाहर गए। प्रतीक्षा मे खडे मुनियो को साथ ले वे आगे चले गए।

सुकर्ण और उसके शिष्यो की मूर्च्छा भग हुई। उन्होने देखा, मुनि वहां नही है। सुकर्ण उम युग का सवसे वडा मान्त्रिक था। उसके चगुल मे फसा हुआ व्यक्ति इस प्रकार मुक्त होकर चला जाए, यह उसके लिए घोर अपमान की वात थी। वह क्रुद्ध हो उठा। उमने मुनि को मारने के लिए एक यज्ञ प्रारम्भ किया। महाज्वाला की साधना प्रारम्भ की। सात पुरुषो की वलि दी। महाज्वाला प्रकट हुई। उसने कार्य का निर्देश चाहा। सुकर्ण वोला—'सुदर्शन मुनि को, उसके परिवार के साथ जला डालो।' महाज्वाला वहां पहुंची। कुछ मुनि सुदर्शन के साथ-साथ चल रहे थे। एक वृद्ध मुनि कुछ आगे-आगे चल रहे थे। उनके पैरो के पास ज्वाला भभक उठी। वे उसमे भस्म हो गए। मुनि सुदर्शन ने इस घटना को देखा और अपने साथ मुनियो को सावधान कर वे कायोत्सर्ग की मुद्रा मे खड़े हो गए। महाज्वाला ने मुनिगण के चारो ओर ज्वाला प्रज्वलित की। पर वह सुदर्शन मुनि के आभा-वलय के पास तक नही पहुंच पा रही थी। महाज्वाला अपने प्रयत्न मे असफल होकर लौट गई। उसने सुकर्ण से कहा—'मैं जल रही हूं, मुझे शान्त करो।' सुकर्ण ने पूछा—'सुदर्शन को जला डाला?' 'नही जला सकी'—महाज्वाला ने उत्तर दिया। सुकर्ण अपना धैर्य खो वैठा। उसने आक्रोशपूर्ण स्वर मे कहा—'देवी! क्या तुम्हारी शक्ति नष्ट हो गई? ऐसा क्यो हुआ?'

महाज्वाला ने कहा—'उसके चारो ओर तैजस का अभेद्य कवच है। उसे भेदकर मैं भीतर नही जा सकी।'

यह आभा-वलय, यह तैजस कवच कायोत्सर्ग की शक्ति का प्रतिबिम्ब है। साधारणतया दो स्थितियो मे कायोत्सर्ग का विधान है—प्रवृत्ति के बाद और कष्ट के क्षणो मे। प्रवृत्ति की सम्पन्नता होने पर कायोत्सर्ग करने मे शारीरिक, स्नायविक और मानसिक तनाव समाप्त हो जाता है। प्रवृत्ति के साथ उत्पन्न होने वाले दोष निरस्त हो जाते हैं।

साधु जंगल मे से गुजर रहे है। सामने सिंह आया। वे कायोत्सर्ग मे खडे हो गए। सिंह चला गया। जैन साहित्य मे इस प्रकार की घटनाए प्रचुर मात्रा मे मिलती है। इन घटनाओ के पीछे भी वास्तविकता है। कायोत्सर्ग करने वाला चेतना के उस तल मे चला जाता है जिस तल मे जाने पर तैजस शरीर की सक्रियता बढ जाती है। वह इतना आलोक विकीर्ण करता है कि उसके पास आने वाला निस्तेज हो जाता है। कायोत्सर्ग तैजस के विकिरण की एक रहस्यपूर्ण पद्धति है। वह चेतना के सूक्ष्मलोक मे चले जाने पर अपने-आप घटित होती है।

कायोत्सर्ग अवतरण की प्रक्रिया है। कोई व्यक्ति किसी बाह्य प्रभाव को ग्रहण करना चाहता है। वह तनाव की स्थिति मे नही हो सकता। तनाव प्रतिरोध पैदा करता है। कायोत्सर्ग मे शारीरिक शिथिलता आ जाती है। इसलिए उस स्थिति मे दूसरे एकात्मकता स्थापित करने की सुविधा हो जाती है।

शरीर से मन और ममत्व को हटा लेने पर पीछे केवल शरीर रह जाता है। जैसे ही मन का शिथिलीकरण होता है, वैसे ही शरीर का शिथिलीकरण हो जाता है और शरीर का शिथिलीकरण होने पर मन का शिथिलीकरण हो जाता है। हम लेट रहे है, बैठे हैं या खडे हैं, कायोत्सर्ग इन तीनो मुद्राओ मे किया जा सकता है। शरीर के एक-एक अंग पर शिथिलता का अनुभव करते चले जाएं। शिथिलता की भावना और शिथिलता का सकल्प। इस प्रक्रिया से दो-तीन क्षणो मे शरीर शिथिल हो जाता है। प्रवृत्ति छूट जाती है और चिन्तन भी छूट जाता हैं। एक प्रकार की नीद का अनुभव होने लग जाता है। न पूरी नीद और न पूरी जागृति, थोडी नीद और थोडी जागृति—यह मिश्रित अनुभव होने लग जाता है। इस स्थिति मे कम से कम आधा घंटा रहना शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक विकास—दोनो के लिए हितकर है। कायोत्सर्ग मृत्यु की उपासना है। जिसे कायोत्सर्ग का अच्छा अभ्यास होता है वह मूर्च्छित अवस्था मे नही मरता। वह मृत्यु के अन्तिम क्षण तक जागृत रहता है और उसे शरीर छूटने अन्तिम क्षण का बोध होता है। कहा जाता है कि मृत्यु के क्षण मे कष्ट

है । कष्ट मृत्यु से नही होता । वह कल्पना के कारण होता है । मृत्यु मे भय की कल्पना है । भय के कारण स्नायुओ मे सिकुड़न होती है । स्नायु की सिकुडन दर्द पैदा करती है । साधारण पीड़ा भी स्नायुविक सिकुडन के कारण तीव्र बन जाती है । हमारे शरीर मे भय न हो, स्नायुओ मे सिकुडन न हो, इस भावना की पूर्ति स्नायु की उपासना से ही हो सकती है ।

स्थूल कर्म शरीर का प्रकम्पन

जिसे हम देख रहे हैं, वह स्थूल शरीर है । उसमे एक सूक्ष्म शरीर है । उसका नाम तैजस है । वह स्थूल शरीर को सक्रिय बनाता है, संचालित करता है । यह प्राण-शक्ति का स्रोत है । वैज्ञानिको ने ऐसे केमरे निर्मित किए है जिनके द्वारा आभा-मंडल के फोटो लिए जा सकते है । पुराने जमाने की परिभाषा थी—जिसमे श्वास चले वह जीवित और जिसमे श्वास बन्द हो जाए वह मृत । आदमी जब मरने को होता है तब उसकी नाक पर रुई का फोहा लगाते हैं, यह पता लगाने के लिए कि वह जी रहा है या नही जी रहा है । यदि रुई का फोहा हिलता है तो श्वास चल रहा है, आदमी जी रहा है । यदि वह नही हिलता है तो मान लिया जाता है कि मर गया । यह बहुत पुरानी बात हो गई । जीवन की नई परिभाषा यह है—श्वास चाहे चले या न चले, हृदय की धडकन हो या न हो, उसकी आभा का वर्तुल टूट गया तो आदमी मर गया । बहुत बार ऐसा होता है कि हृदय की धडकन रुक जाने के कुछ दिनो बाद भी आदमी फिर जी उठता है । बहुत लोग श्मशान-यात्रा कर फिर घर लौट आते हैं । हृदय की धडकन बन्द हो गई, श्वास की गति बन्द हो गई किन्तु आभा का वर्तुल नही टूटा तो वे फिर जी उठे और चिता से उठकर घर आ गए । यह आभा-वलय तैजस शरीर का एक प्रतिबिम्ब है । वह जीवन का सूत्रधार है । यह सम्पूर्ण स्थूल शरीर के भीतर और बाहर—दोनो ओर व्याप्त है ।

तैजस शरीर के भीतर एक सूक्ष्म शरीर और है । उसका नाम है—कर्म शरीर । दृश्य शरीर आहार के परमाणुओ, तैजस शरीर विद्युत् परमाणुओ और कर्म शरीर वासना, संस्कार और संवेदना सूक्ष्मतम परमाणुओ से निर्मित होता है । कर्म शरीर सर्वाधिक शक्तिशाली शरीर है । यह सब शरीरो का मूल कारण है । इसके होने पर अन्य शरीर होते हैं । इसके न होने पर कोई शरीर नही होता । स्थूल शरीर का सीधा सम्पर्क तैजस शरीर से है । तैजस शरीर का सीधा सम्पर्क कर्म शरीर से है और कर्म शरीर का सीधा सम्पर्क चेतना से है । कर्म शरीर चैतन्य पर आवरण डालता है । इसलिए चेतना सर्वात्मना बाह्य जगत् का ज्ञान नही कर पाती । आवरण के जो बिन्दु विरल होते हैं, उनमे से झांककर कुछ चैतन्य-रश्मियां बाह्य जगत् को जान पाती हैं ।

कर्म शरीर स्थूल शरीर के द्वारा आकर्षित वाह्य जगत् के प्रभावो को ग्रहण करता है और चैतन्य के प्रभावो को वाह्य जगत् तक पहुचाता है। इसके चार मुख्य केन्द्र है। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार है—

१. ज्ञान-केन्द्र।
२. सत्य-केन्द्र।
३. आनन्द-केन्द्र।
४. शक्ति-केन्द्र।

इसके चार गौण केन्द्र इस प्रकार है—

१. सवेदन-केन्द्र।
२. निर्माण-केन्द्र।
३. उपलब्धि-केन्द्र।
४. जीवन-केन्द्र।

ज्ञान-केन्द्र—इन्द्रिया ज्ञान-केन्द्र है। उनके सस्थान स्थूल शरीर मे निर्मित होते है। पर ज्ञान का मूल स्रोत स्थूल शरीर नही है। ये सस्थान एक प्रकार से अभिव्यक्ति केन्द्र है। ज्ञान की धारा कर्म-शरीर के माध्यम से उनमे सक्रान्त होती है। स्थूल शरीर मे जितने भी ज्ञान-केन्द्र है वे सव कर्म-शरीर द्वारा सप्रेपित ज्ञान-धारा के सवाहक है। कर्म शरीर के जितने द्वार खुलते है उतने ही ज्ञान-केन्द्र स्थूल शरीर मे निर्मित होते है। आनन्द, शक्ति और सवेदन के केन्द्र भी कर्म-शरीर मे होते है। उनका प्रतिविम्व स्थूल शरीर मे होता है। सुख-दु ख का अनुभव भी कर्म-शरीर को होता है। घटना स्थूल शरीर मे घटित होती है। उसका सवेदन कर्म शरीर मे होता है। मादक वस्तुओ का प्रयोग करने पर स्थूल शरीर और कर्म-शरीर का सम्वन्ध विच्छिन्न हो जाता है। उस दशा मे स्थूल शरीर को सर्दी-गर्मी या पीडा का कोई सवेदन नही होता। रोग भी कर्म-शरीर मे उत्पन्न होता है और स्थूल शरीर मे व्यक्त। वासना कर्म-शरीर मे उत्पन्न होती है और व्यक्त होती है स्थूल शरीर मे। कर्म-शरीर और स्थूल-शरीर—दोनो का सम्वन्ध हमारी विभिन्न अवस्थाओ का निर्माण करता है। हम समस्या और समाधान शरीर मे खोजते है, जवकि उन दोनो का मूल कर्म-शरीर मे होता है। कर्म-शरीर हमारे चिन्तन, भावना, सकल्प और प्रवृत्ति से प्रकपित होता है। प्रकम्पन-काल मे वह नए परमाणु को ग्रहण (वध) और पूर्व-गृहीत परमाणुओ का परित्याग (निर्जरा) करता है। चिन्तन, भावना, सकल्प और प्रवृत्ति—ये पवित्र होते है तब कर्म-शरीर के परमाणु अधिक मात्रा मे परित्यक्त होते है और उसके आवारक और अवरोधक पटल विरल हो जाते है। उसका प्रभाव स्थूल शरीर के ज्ञान-केन्द्रो पर भी होता है। उसके ज्ञान-केन्द्र (या चक्र) विकसित हो जाते है। आवारक पटल के विरल और ज्ञान-केन्द्रो के विकसित होने पर

चेतना की कार्य-क्षमता बढ जाती है। स्थूल शरीर के ज्ञान-केन्द्रो का विकास करने से चेतना की कार्य-क्षमता नही बढती। उसकी कार्य-क्षमता को प्रकपित करने और उसके आवारक पटल को अधिक विरत करने से बढती है। हम किसी ज्ञान-केन्द्र पर मन को एकाग्र कर ध्यान करते है, उससे केवल स्थूल शरीर का ज्ञान-केन्द्र ही विकसित नही होता किन्तु कर्म-शरीर का ज्ञान-केन्द्र भी विकसित होता है। इन केन्द्रो के विकास का उपाय केवल ध्यान ही नही है। इनका विकास ध्यान से भी होता है, तपस्या से भी होता है, भावना से भी होता है और वीतराग आत्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करने से भी होता है। हठयोग की साधना-पद्धति मे स्थूल शरीर के चक्रो को जागृत करने पर अधिक बल दिया गया है। जैन साधना-पद्धति कर्म-शरीर को विरल करने पर आधारित है। इसलिए इसमे हठयोग की अपेक्षा राजयोग के तत्त्व अधिक विकसित हुए है। भगवान् महावीर का साधना-सूत्र है—कर्म-शरीर को प्रकपित करो। हठयोग का प्रभाव प्राणशक्ति पर अधिक होता है। हठयोगी मे प्राणशक्ति का चमत्कार होता है, पर चेतना की निर्मलता—क्रोध, मान, माया और लोभ की अल्पता नही होती। कर्म-शरीर का मूल बीज क्रोध, मान, माया और लोभ है। जैन साधना-पद्धति का आदि बिन्दु और अन्तिम बिन्दु इस कषाय-चतुष्टयी का उन्मूलन है। इसका उन्मूलन करने वाला वीतराग होता है। उसमे प्राण-शक्ति का चमत्कार नही हो सकता किन्तु उसकी चेतना निर्मल और पवित्र हो जाती है। उसमे ज्ञान-केन्द्रो के माध्यमो का सहारा लिए बिना सर्वात्मना बाह्य जगत् को जानने की क्षमता विकसित हो जाती है। ज्ञान अनावृत, आनन्द अबाधित और शक्ति अप्रतिहत हो जाती है।

तैजस शरीर (प्राण शरीर या प्राणशक्ति) भी तपस्या से विकसित होता है। किन्तु तपस्या का मुख्य कार्य कर्म-शरीर को प्रकपित करना है। अनशन, ऊनोदरी (आहार की अल्पता), वृत्ति-संक्षेप (आहार-विषयक संकल्प), रस-परित्याग, कायक्लेश और प्रतिसलीनता (इन्द्रिय-सयम या प्रत्याहार)—तपस्या के ये छह प्रकार स्थूल शरीर के माध्यम से कर्म-शरीर को प्रकपित करते है, इसलिए भगवान् महावीर ने उन्हे बाह्य तप (बहिरंग योग) कहा है।

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य (सेवा), स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग (कषाय-त्याग और कायोत्सर्ग)—तपस्या के ये छह प्रकार मन के माध्यम से कर्म-शरीर को प्रकपित करते है, इसलिए भगवान् महावीर ने उन्हे आन्तरिक तप (अतरंग योग) कहा है।

स्थूल शरीर के माध्यम से होने वाले कर्म-शरीर के प्रकपनो की अपेक्षा मन के माध्यम से होने वाले प्रकपन अधिक शक्तिशाली होते है। उनकी चोट

भीतरी और गहरी होती है। इसीलिए उनके द्वारा कर्म-शरीर के परमाणुओ का अधिक मात्रा मे विकिरण होता है।

४. प्राणवायु

शरीर मे कम्पन होता है। फेफड़ा रक्त का शोधन करता है। हृदय उसको फेंकता है। वहा मे उसका समूचे शरीर मे अभिसरण होता है। धमनियो मे अशुद्ध रक्त जाएगा तो विकृति पैदा करेगा। उससे शरीर मे मदता, शिथिलता और आलस्य पैदा होगा। बीमारिया पैदा होगी। शुद्ध रक्त जाएगा तो शरीर की क्षमता बढेगी। काम करने की शक्ति बढेगी। हृदय का काम रक्त को फेकने का है। उसकी सफाई करने का नही है। सफाई करने का काम फेफडे का है। रक्त शरीर मे घूमा। उस मे बहुत सारी विकृतिया मिल गई। फुप्फुस यन्त्र ने उसके विषो को अलग कर उसे निर्दोष बना दिया। यह रक्त की सफाई प्राणवायु के द्वारा होती है। फुप्फुस प्राणवायु के द्वारा रक्त को छानता है। उसमे जो कार्बन-डाई-ऑक्साइड जमा होता है उसे निकाल देता है। फेफडे मे पहुचते-पहुचते खून का रग नीला हो जाता है। सफाई होने पर उसकी रक्तिमा प्रकट हो जाती है। फेफडे को प्राणवायु पूरा मिलता है तो रक्त पूरा शुद्ध हो जाता है। प्राणवायु पूरा नही मिलता तब तक रक्त पूरा शुद्ध नही होता। हम प्राणवायु को पूरा लेना नही जानते। पूरा श्वास लेना नही जानते। हम श्वास लेना नही जानते, यह कहना अटपटी-सी बात लगती है। हम गूढ सत्य को नही जानते। यह बात समझ मे आ सकती है किन्तु श्वास जैसी साधारण बात के लिए यह कहा जाए कि 'हम श्वास लेना नही जानते', तो ऐसा लगता है कि या तो कहने वाले का कोई अह है या वह दूसरे के अह पर चोट कर रहा है।

श्वास हमारी नैसर्गिक प्रवृत्ति है। बच्चा श्वास लेना शुरु कर देता है। यह स्व-सचालित नाडी-तन्त्र की क्रिया है। इसके लिए प्रशिक्षण लेना आवश्यक नही है। हर आदमी श्वास लेता है, फिर वह पढा-लिखा हो या अनपढ। साधारणतया हम एक मिनट मे पन्द्रह-बीस श्वास लेते है हर आदमी एक दिन-रात में इक्कीस हजार से कुछ अधिक श्वास लेता है यदि गहरा श्वास ले तो इस सख्या मे काफी परिवर्तन आ सकता है। श्वास का प्राणशक्ति के साथ गहरा सम्बन्ध है। जो कम श्वास लेता है उसका जीवन लम्बा होता है। जो अधिक श्वास लेता है उसका जीवन शीघ्र समाप्त हो जाता है। वैज्ञानिक शोधो का निष्कर्ष है कि जो एक मिनट मे चार पाच श्वास लेते है वे एक सौ पचास या दो सौ वर्ष जीते है। जो एक मिनट मे दस-बारह श्वास लेते है वे सौ या एक सौ पचीस वर्ष जीते है। जो एक मिनट मे पन्द्रह-सोलह श्वास लेते है वे सत्तर या अस्सी वर्ष जीते है। श्वास

जितना दीर्घ होगा उतना ही अधिक मात्रा मे प्राणवायु भीतर जायेगा। फेफडे के रक्त की शुद्धि के लिए उतना ही अधिक ईंधन मिलेगा। यदि एक मिनट मे एक या दो श्वास लिया जा सके तो फुफ्फुस यन्त्र के सात करोड कोषो (Cells) की पूरी सफाई हो जाती है। योग-विद्या ने सर्वप्रथम मनुष्य का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि हमारा श्वास दीर्घ और गहरा होना चाहिए। दीर्घ श्वास से रक्तशुद्धि ही नही होती है, मन भी शान्त होता है। जनसाधारण का प्रश्न है कि मन कही टिकता नही है उसे कैसे टिकाए ? जैसे ही एक बिन्दु पर टिकाने का प्रयत्न करते है मन दौडने लग जाता है। मन को रोकना निषेध का सिद्धान्त है। जिसका निषेध किया जाता है उसका आकर्षण बढ जाता है। आप बच्चे से कहे, तुम्हे बाहर नही जाना है तब वह बाहर जरूर जाना चाहेगा। रत्नादेवी ने जिनरक्षित और जिन-पाल से कहा—'मै कार्यवश बाहर जा रही हूं। अकेले मे तुम्हारा मन न लगे तो तुम घूमने के लिए बाहर चले जाना । पूर्व मे रमणीय उद्यान है। सब ऋतुयो के फूल, सुरभिमय पवन, मोहक वातावरण—सब कुछ उपलब्ध है। वहा सुख से समय बिताना। यदि तुम चाहो तो पश्चिम और उत्तर के उद्यानो मे चले जाना। वे भी बहुत रमणीय है। किन्तु एक बात का ध्यान रखना। दक्षिण के उद्यान मे मत जाना। वहा जाओगे तो संकट मे पड जाओगे। वह अत्यन्त खतरनाक है।, देवी चली गई। जिनरक्षित और जिनपाल के मन मे पूर्व,पश्चिम और उत्तर के उद्यानो मे जाने का कोई आकर्षण नही बना। फिर भी वे देवी के निर्देशानुसार पूर्व के उद्यान मे गये। फिर पश्चिम के और फिर उत्तर के उद्यान मे गए। उनका मन दक्षिण के उद्यान मे जाने के लिए छटपटा रहा था। मन मे आया—वहा जाना बडा खतरनाक है। फिर सोचा देखे तो सही क्या खतरा है ? देखे बिना कैसे पता चलेगा ? वे घूमते रहे और साथ-साथ मन भी घूमता रहा। वे घूमते है पूर्व के उद्यान मे और उनका मन घूमता है दक्षिण के उद्यान मे। वे घूमते हैं पश्चिम के उद्यान मे और उनका मन घूमता है दक्षिण के उद्यान मे। वे घूमते है उत्तर के उद्यान मे और उनका मन दौड रहा है दक्षिण के उद्यान मे। यह बहुत बडा मनोवैज्ञानिक सत्य है कि निषेध करने का अर्थ है—आकर्षण पैदा करना।

जब-जब हम मन को रोकने की बात सोचते है तब तब उसके दौडने की बात सोचते हैं। हम नही चाहते कि वह दौडे, किन्तु जब रोकना चाहते है तब उसकी दौड कैसे बन्द हो ? हम जिन स्थानो मे उसे नही जाने देना चाहते वहा वह जरूर जाना चाहेगा। एक साधक ध्यान का अभ्यास कर रहा था। गुरु उसे ध्यान का अभ्यास करा रहे थे। एक दिन गुरु ने कहा—'तुम एकान्त मे जाकर ध्यान करो। पूर्ण एकाग्रता से ध्यान करो। पर एक

बात का ध्यान रखना, तुम्हारा अभ्यास तभी सफल होगा जब तुम बन्दर को याद नही करोगे। यदि तुम बन्दर को याद करोगे तो तुम्हारा अभ्यास-क्रम टूट जायेगा।' वह गुरु को प्रणाम कर एकान्त मे गया। ध्यान करने बैठा। उसे और कोई स्मृति नही आई। उसका मन बन्दर की स्मृति मे उलझ गया। गुरु ने उसके मन मे एक जहरीला कीटाणु छोड दिया। वह बेचारा बार-बार उसे भूलने का प्रयत्न करता है। किन्तु जब-जब वह उसे भूलने का प्रयत्न करता है, तब-तब बन्दर उसकी आखो के सामने आ जाता है वह निषेध की पकड मे आ गया। उसका अभ्यास सफल नही हो सका। गुरु ने दूसरे दिन कहा—'तुम एकान्त मे चले जाओ। एक घटे का समय है दोनो नथुनो के नीचे आते-जाते प्राणवायु को देखते रहो।' साधक ने वैसा ही किया। दस मिनट बीते होगे कि मन शान्त हो गया। स्मृति, चिन्तन और कल्पना—सबके दरवाजे बन्द हो गए। आधा घटा बीता कि देश-काल का भान भी समाप्त हो गया। वह समाधि मे कई घटो तक बैठा रहा। तीन घटा बाद उसकी समाधि टूटी। गुरु ने नही कहा कि मन को रोकना है। शिष्य ने भी नही सोचा कि मन को रोकना है। किन्तु मन रुक गया। वह रुकता है, उसे रोका नही जा सकता। हम श्वास को मन्द करें, मन अपने आप रुक जाएगा। हम श्वास को देखें, वह अपने आप शान्त हो जाएगा। हम चचलता के प्रवाह को रोक देते है तब चचलता अपने आप रुक जाती है। जलाशय मे पानी है तब लहर उठती है। उसमे पानी ही नही रहा, फिर लहर कैसे उठेगी? मन की चचलता का प्रवाह है प्राणवायु। उसका धक्का लगता है तब चचलता पैदा होती है। प्राणवायु को शान्त कर दिया तब मन चचल कैसे होगा? आवेग प्राणवायु की चचलता के द्वारा होते है। प्राणवायु शान्त है तो हम क्रोध करना चाहे, तो भी नही कर पायेंगे। क्रोध करने के लिए जरूरी है कि पहले श्वास तेज हो। श्वास तेज होगा तब हम क्रोध करेंगे। या क्रोध करेगे तब हमारा श्वास तेज होगा। शान्त श्वास मे हम क्रोध नही कर सकते। शान्त श्वास मे हमारे मन मे वासना जागृत नही हो सकती। शात श्वास मे हमारे मन मे कोई आवेश नही हो सकता। ये सारे आवेश तीव्र श्वास मे होते है। यौगिक निष्कर्षो के अनुसार क्रोध की स्थिति मे एक मिनट मे तीस-चालीस श्वास हो जाते है। सभोग की स्थिति मे वे साठ तक चले जाते हैं। इसीलिए सभोग के द्वारा अधिक शक्ति क्षीण होती है। भय लगता है तो हृदय की धडकन और श्वास की गति बढ जाती है। भय का आवेश शान्त होता है तो श्वास की गति मन्द हो जाती है। शान्त समुद्र, तूफानी समुद्र और जमा हुआ समुद्र—समुद्र के ये तीन रूप हैं। शान्त समुद्र मे नौका को खतरा नही होता। तूफानी समुद्र मे वह डगमगाने लग जाती है। उत्तरी समुद्र जमे पड़े हैं। उस पर आदमी चला जाता है। कोई खतरा

नही है। हमारे मन की भी तीन अवस्थाएं होती हैं— शान्त मन, तूफानी मन और सघन मन। प्राणवायु लम्बा होता है, पूरा होता है, दूषित द्रव्य (Carbon) को पूरी मात्रा मे वाहर निकालता है तव मन शान्त रहता है। प्राणवायु की दीर्घता कम होती है, दूषित द्रव्य पूरी मात्रा मे वाहर नही निकलता तव मन तूफानी वन जाता है। प्राणवायु मन्द होते-होते स्थिर हो जाता है तव मन सघन हो जाता है। समाधि अपने आप उतर आती है।

५. प्राण

प्राण और प्राणवायु एक नही है। प्राणवायु वाहर से लिया जाने वाला पौद्गलिक द्रव्य है। उसे हम लेते हैं और छोडते है। फिर लेते है और फिर छोडते है। यह क्रम चलता रहता है। प्राण हमारी जीवनी-शक्ति है। वह समूचे शरीर मे प्रवाहित है। प्राण है तव तक जीवन है। प्राण समाप्त होता है, जीवन समाप्त हो जाता है। जैन धर्म मे प्राण-वियोजन को हिंसा माना है।

प्राण तैजस शरीर का विद्युत्-प्रवाह है। चिन्तन का यंत्र मस्तिष्क है किन्तु उसमे प्राण-शक्ति का प्रवाह न हो तो कोई भी मनुष्य चिन्तन नही कर सकता। वोलने का माध्यम स्वर-यत्र है। किन्तु उसमें प्राण-शक्ति का प्रवाह न हो तो कोई भी मनुष्य वोल नही सकता। नाडी-संस्थान मे क्रिया की क्षमता है। किन्तु उस मे प्राण-शक्ति का प्रवाह न हो तो वह कार्य नही कर सकता। आंख देखती है, कान सुनते है। सव इन्द्रियां अपना-अपना काम करती है। किन्तु उनमे यदि प्राण-शक्ति का प्रवाह न हो तो इन्द्रिया कुछ भी नही जान सकती।

एक ही प्राणधारा अनेक तंत्रो मे प्रवाहित होने के कारण अनेक नामों से अभिहित होती है। मन मे प्राण का प्रवाह होता है तव हम चिंतन करते है। यह है 'मन प्राण'। वाणी मे प्राण का प्रवाह होता है तव हम वोलते है। यह है 'वचन प्राण'। शरीर मे प्राण का प्रवाह होता है तव हम क्रिया करते है। यह है 'शरीर-प्राण'। श्वास-संस्थान मे प्राण का प्रवाह होता है, तव हम श्वास लेते है। यह है 'श्वास प्राण'। आहार-संस्थान मे प्राण का प्रवाह होता है तव हम जीवन धारण करते है। यह है 'आयुष्य प्राण'। इन्द्रियो मे प्राण का प्रवाह होता है तव हम देखते हैं, सुनते हैं, सूघते है, चखते हैं और स्पर्श-वोध करते है। यह है 'इन्द्रिय प्राण'।

जो व्यक्ति आध्यात्मिक साधना मे लीन होता है, उसकी प्राण-शक्ति विकसित हो जाती है। कोई साधक केवल प्राण का प्रयोग करता है, उसकी भी प्राण-शक्ति विकसित हो जाती है। प्राणायाम उसके विकास का वहुत

बडा साधन हैं। प्राण-शक्ति का विकास बहुत आवश्यक है। जिसकी प्राण-शक्ति विकसित होती है वह आन्तरिक खोज मे बहुत आगे बढ सकता है।

६. प्राणायाम

प्राणवायु को लेना (पूरक), छोडना (रेचक), उसे भीतर और बाहर रोकना (कुम्भक)—इन तीन क्रियाओ का नाम प्राणायम है। प्राणवायु के प्रयोगो से प्राणशक्ति की अग्नि प्रज्वलित होती है, इसीलिए प्राणायाम का मूल्य है। प्राणवायु का इंधन जितना अधिक मात्रा मे मिलता है उतना ही प्राण-मिश्रित चैतन्य विकसित होता है। जैन साधको ने तीव्र प्राणायाम को अस्वीकार किया है। उन्होने श्वास को मन्द, सूक्ष्म या दीर्घ करने को उपयोगी माना है। विकास का रहस्य है प्राणाधार को नाडी-सस्थान मे प्रवाहित करना। प्राणवायु फेफडो के नीचे (तनुपट Diaform) तक ही जाता है। वह समूचे शरीर मे नही जाता। प्राण, अपान, ऊदान, व्यान और समान—इनका शरीरगत जो प्रवाह है, वह प्राणवायु नही किन्तु प्राण-धारा है। इस पर ध्यान केन्द्रित करना और इसे उत्क्रान्ति की दृष्टि से विभिन्न नाडी-चक्रो मे प्रवाहित करना साधना का महत्त्वपूर्ण अग है।

६

सत्य की खोज : विसंवादिता का अवरोध

सत्य शाश्वत है। सत्यदर्शी उसका प्रवर्तन नही करता, व्याख्या करता है। भगवान् महावीर सत्य के प्रवर्तक नही किन्तु व्याख्याता थे। उन्होने दीर्घ तपस्या के द्वारा सत्य का साक्षात्कार किया और भाषा की सीमा मे उसे अनावृत किया। उन्होने देखा, सत्य का साक्षात्कार किया जा सकता है, उसकी समग्रता का प्रतिपादन नही किया जा सकता। प्रतिपादन सत्यांश का ही किया जा सकता है। ज्ञान अपने लिए होता है और प्रतिपादन दूसरो के लिए। ज्ञान अपने-आप मे प्रत्यक्ष होता है। ज्ञेय को जानते समय वह प्रत्यक्ष भी होता है और परोक्ष भी होता है। वह अपने-आप मे न प्रमाण होता है और न अप्रमाण। ज्ञेय को जानते समय वह प्रमाण भी होता है और प्रमाण भी होता है। सशयित और विपर्यस्त ज्ञान अप्रमाण होता है। निर्णयात्मक ज्ञान प्रमाण होता है। ज्ञान-विकास की तरतमता, स्वार्थ और परार्थ, प्रत्यक्ष और परोक्ष, प्रामाण्य और अप्रामाण्य—ज्ञान के इन विविध रूपो ने सत्य को विविध रूपो मे विभक्त कर दिया। सत्य सत्य ही है। वह मेरे लिए एक प्रकार का और दूसरे के लिए दूसरे प्रकार का नही होता। फिर भी यह हो रहा है कि मैं जिसे सत्य मानता हूं दूसरा उसे असत्य मानता है। दूसरा जिसे सत्य मानता है मैं उसे असत्य मानता हूं। सत्य का यह विवादास्पद रूप मनुष्य को असत्य की ओर ले जाता है। महावीर और बुद्ध भारत मे हुए, लाओत्से और कन्फ्यूशियस चीन मे। देश भिन्न है किन्तु काल भिन्न नही है। चारो सम-सामयिक हैं। व्यक्ति देश-काल से अविच्छिन्न हो सकता है किन्तु सत्य देशकाल से अविच्छिन्न नही होता। वह हर देश और हर काल मे एक रूप ही होता है। किन्तु महावीर को पढ़ने वाला एक प्रकार के सत्य को पकड़ रहा है। बुद्ध को पढने वाला दूसरे प्रकार के सत्य को पकड रहा है। लाओत्से को पढने वाला तीसरे प्रकार के और कन्फ्यूशियस को पढ़ने वाला चौथे प्रकार के सत्य को पकड रहा है। सत्य एकरूप, प्रतिपादन अनेक रूप और पकड उससे बहुत दूर। यह स्थिति एक सत्य-शोधक के मन मे यह प्रश्न पैदा करती है--क्या सत्य वास्तविक है या मृगमरीचिका? यदि वास्तव है तो प्रतिपादन का भेद क्यो? यदि मृगमरीचिका है तो उसके लिए इतना प्रयत्न क्यो? इस प्रश्न

ने बहुत लोगो को असत्य की दिशा मे ढकेल दिया जिनके चरण सत्य की दिशा मे बढने को तत्पर थे। महावीर ने इस प्रश्न को गम्भीरता मे देखा। सत्य की दिशा मे बढने वाले पैरो को लडखडाते हुए देखा और देखा कि सत्याश सत्य पर आवरण डाल रहा है, असत्य को उजागर कर रहा है। उन्होने इस प्रश्न को सुलझाने के लिए अनेकान्त की स्थापना की और यह घोषणा की कि जो प्रतिपादन किया जाता है वह सत्य नही है, सत्याश है। सत्य का प्रतिपादन नही किया जा सकता। प्रतिपादन सत्याश का ही किया जा सकता है। मैंने सत्य का साक्षात् किया है, किन्तु मैं उसका प्रतिपादन नही कर सकता। दूसरा कोई सत्य का साक्षात् कर सकता है किन्तु उसका प्रतिपादन नही कर सकता। वह अवक्तव्य सत्याश ही हो सकता है। मैं एक सत्याश का प्रतिपादन करता हू, दूसरा दूसरे सत्याश का प्रतिपादन करता है। दोनो के सत्याश भिन्न हो सकते है और होते है। यह सत्य का भेद नही। यह सत्य का विभाजन नही। वह अपेक्षा-भेद से प्रतिपादन सत्याश का भेद है। मैं किसी एक सत्याश का प्रतिपादन अपेक्षित समझता हू तो दूसरा किसी दूसरे सत्याश का प्रतिपादन अपेक्षित समझता है। यह वाणी की क्षमता का भेद है। शब्द मे इतनी ही क्षमता है कि वह एक क्षण मे सत्य के अनन्त पर्यायो (अशो) मे से एक ही पर्याय का प्रतिपादन करता है और समूची भाषा सत्य के कुछेक पर्यायो का प्रतिपादन कर सकती है। किसी भी भाषा ने सत्य के हजारो पर्यायो से अधिक पर्यायो को अभिव्यक्ति नही दी है और भविष्य मे भी नही दे पाएगी। कोई भी मनुष्य अपने जीवन मे सत्य के हजारो पर्यायो से अधिक पर्यायो को अभिव्यक्ति नही दे पाता। फिर इस तर्क का क्या अर्थ है कि यह सर्वज्ञ का वचन है। यह सत्य के साक्षात् द्रष्ट का वचन है। क्या सर्वज्ञ या सत्य का साक्षात् द्रष्टा सम्पूर्ण सत्य को कह सकता है ? यदि कह सके तो सत्य अनन्त नही हो सकता, शाश्वत नही हो सकता। और यदि नही कह सके तो वह सत्याश ही कह सकेगा। सत्याश को पूर्ण सत्य मानकर हम सत्य की खोज के द्वार को बन्द नही कर सकते। अनेकान्त के सिद्धान्त ने सत्य की खोज के द्वार को सदा के लिए, सबके लिए खोल दिया। उसका प्रतिपाद्य है—सत्य की खोज मैं भी कर सकता हू, तुम भी कर सकते हो। उसका साक्षात्कार भी हम सब कर सकते है। हमारे पूर्वजो ने सत्य की खोज की, उसका साक्षात् किया और प्रतिपादन भी। सत्य की खोज और साक्षात्कार उनका अपना विषय है और प्रतिपादन हमारे लिए है। हम उनके प्रतिपादन को ही मानकर चलें, सत्याश के द्वारा ही सत्य को समझने का प्रयत्न करें, इससे बडा असत्य कोई नही हो सकता। सत्यास के द्वारा सत्य को नही समझा जा सकता। उसके द्वारा सत्य की जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है किन्तु सत्य को

अपनी साधना के द्वारा ही उपलब्ध किया जा सकता है ।

अनेकान्त ने उस साधना का पथ प्रस्तुत किया है। वह है ऋजुता, अनाग्रह । महावीर ने कहा—सत्य उसे उपलब्ध होता जो ऋजु है। वह जो जैसा है उसे उसी रूप मे स्वीकार करता है; यथार्थ को अपने पूर्वाग्रह के साचे मे ढालने का प्रयत्न नही करता, वस्तु-सत्य के दर्पण को अपनी रुचि और संस्कार के फ्रेम मे मढने का प्रयत्न नही करता, वस्तु-सत्य के विरोधी विसगत प्रतीत होने वाले पर्यायो मे अपने तर्क वल से सामजस्य और संगति स्थापित करने का प्रयत्न नही करता। यह ऋजुता की साधना झुकाव-शून्यता की साधना है। विचार-शून्यता की साधना है। ऋजु व्यक्ति न महावीर के प्रति झुकाव रखता है और न किसी दूसरे के प्रति। उसका मन और मस्तिष्क खाली होता है, शून्य होता है। महावीर ने कहा वह सत्य है और लाओत्से ने कहा वह असत्य है, ऐसा भाव उसमे नही होता। वह महावीर के सत्यांश को महावीर के देश, काल, अपेक्षा और परिस्थितियो के संदर्भ मे समझने का प्रयत्न करता है। लाओत्से के सत्य को उनके देश, काल, अपेक्षा और परिस्थितियो के सदर्भ मे समझने का प्रयत्न करता है और सत्य की उपलब्धि के लिए अपनी साधना को आगे वढाता है। सत्य की खोज के मार्ग मे जितने प्रश्न, जितनी समस्याएं और जितनी उलझनें हैं वे सब एकान्तवादी लोगो ने उत्पन्न की है। एक एकान्तवादी व्यक्ति 'क' के सत्यांश को पूर्ण सत्य मानकर 'ख' के सत्यांश को असत्याश वतलाता है तो दूसरा व्यक्ति 'ख' के सत्यांश को पूर्ण सत्य मानकर 'क' के सत्याश को असत्यांश वतलाता है। इस प्रकार वे एक-दूसरे के सत्याश को असत्याश वतलाकर सत्य की खोज मे प्रश्न पैदा करते है। वे यथार्थ को यथार्थ रूप मे स्वीकार करने के लिए तैयार नही है। वे वचन-प्रामाण्य या शास्त्र-प्रामाण्य से ही सत्य को उपलब्ध करना चाहते है। उसके लिए ऋजुता या विचार-शून्यता की साधना करना नही चाहते। ऐसे ही लोगो ने सत्याशो मे विरोधाभास दिखाकर सत्य की अनेकरूपता और सत्यदर्शी तपस्वियो की परस्पर विसंवादिता के प्रश्न को उजागर किया है।

१०

प्रत्ययवाद और वस्तुवाद

हमारे सामने दो जगत् है—परम अस्तित्व और अपर अस्तित्व। प्रत्ययवादी (या आदर्शवादी) दार्शनिक अपर अस्तित्व को वास्तविक नही मानते। उनके मतानुसार चेतना से बाहर कुछ नही है। भारतीय दार्शनिको मे इस सिद्धान्त का प्रतिपादन वेदान्त ने किया। पश्चिमी दार्शनिको मे इस सिद्धान्त के प्रतिपादक कान्ट, फिक्ट, शेलिंग, हेगेल, ग्रीन, जेम्स वार्ड आदि दार्शनिक है।

वस्तुवादी दार्शनिक अपर अस्तित्व को वास्तविक मानते है। उनके मतानुसार अपर अस्तित्व चेतना-निरपेक्ष है, स्वतत्र है। भारतीय दार्शनिको मे साख्य, वैशेषिक और बौद्ध दर्शन ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। पश्चिमी दार्शनिको मे रीड, हैमिल्टन, बर्ट्रेण्ड रसल आदि दार्शनिक इसके प्रतिपादक है।

जैन दर्शन ने प्रत्ययवाद और वस्तुवाद—इन दोनो सत्याशो की सापेक्ष व्याख्या की है। उस व्याख्या का पहला सूत्र प्रत्ययवादी धारणा मे संशोधन प्रस्तुत करता है। चेतना से बाहर कुछ नही है, इसकी अपेक्षा यह मानना अधिक सगत हो सकता है कि अस्तित्व से बाहर कुछ नही है। अस्तित्व को एक इकाई बनाया जा सकता है, किन्तु चेतना को एक इकाई नही बनाया जा सकता। अस्तित्व मे चेतन और अचेतन—दोनो का समाहार हो सकता है, किन्तु चेतन मे अचेतन का समाहार नही हो सकता। चेतन और अचेतन यह दो की स्वीकृति प्रत्ययवाद को वस्तुवाद मे बदल देती है। अचेतन को चेतना का प्रतिबिम्ब मानने मे अनेक जटिलताए उत्पन्न होती हैं। अस्तित्व की एकता मे कोई जटिलता नही है। चेतना विभाजक गुण है। वह चेतन को अचेतन से पृथक् करती है। 'सामान्य' सयोजक गुण है। वह सब द्रव्यो मे समानरूप से व्याप्त रहता है। इसलिए वह एकता का अन्तिम बिन्दु है। उस पर पूर्ण अद्वैत का सिद्धान्त फलित होता है। अत प्रत्ययवादी दृष्टिकोण भी सत्यांश है।

'है' (सत्) परम अस्तित्व है। 'अमुक है'—यह अपर अस्तित्व है। परम अस्तित्व मे कोई विभाजन नही है, न द्रव्य और न पर्याय। अपर अस्तित्व मे विभाजन होता है। उसकी सीमा मे द्रव्य हैं और उनके अनेक

प्रकार है। पर्याय है और वे अनन्त है। द्रव्य में दो प्रकार के गुण समन्वित होते है—सामान्य और विशेप। ये एक-दूसरे से कभी पृथक् नही होते। सामान्यशून्य विशेष और विशेपशून्य सामान्य कही भी उपलब्ध नही होता। सामान्य गुण द्रव्य के अस्तित्व को बनाए रखता है किन्तु उसकी विशेपता का अपहरण नही करता। विशेष गुण द्रव्य की स्वतन्त्रता को बनाए रखता है किन्तु उसके अस्तित्व मे कोई भी बाधा उपस्थित नही करता।

जब हम सामान्य दर्शन की धारा मे होते है तब हम परम अस्तित्व को देखते है और जब हम विशेष दर्शन की धारा मे होते हैं तब हम अपर अस्तित्व को देखते है। यह परम अस्तित्व और परम अस्तित्व का विभाजन नही किन्तु हमारे दर्शन का विभाजन है। हम एक साथ दोनों को नही देख सकते इसलिए जगत् को कभी सामान्य के कोण से देखते है और कभी विशेष के कोण से। सामान्य के कोण से देखने पर परम अस्तित्व का सत्याश उपलब्ध होता है और विशेष के कोण से देखने पर अपर अस्तित्व का सत्याश उपलब्ध होता है। इस सापेक्ष व्याख्या में न प्रत्ययवाद वस्तुवाद का विरोधी है और न वस्तुवाद प्रत्ययवाद का। प्रत्ययवाद का ध्येय है—केवल चैतन्य की वास्तविक सत्ता स्थापित करना और वस्तुवाद का ध्येय है—चैतन्य से वस्तु की स्वतन्त्रता स्थापित करना।

ज्ञेय ज्ञाता से स्वतन्त्र है। यदि वह ज्ञाता से स्वतंत्र न हो तो ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध नही हो सकता। सम्बन्ध दो मे स्थापित होता है। एक मे कोई सम्बन्ध नही होता। ज्ञेय का अस्तित्व ज्ञाता के ज्ञान पर निर्भर नही है। ज्ञाता के जानने के क्षणो मे वह निर्मित नही होता और ज्ञाता के न जानने के क्षणो मे वह विलुप्त नही होता। प्रत्ययवादियो का तर्क है—ज्ञेय स्वतंत्र हो तो उसका अनुभव सबको समान होना चाहिए, किन्तु वैसा नही होता। एक ही वस्तु को अनेक लोग अनेक रूपो मे जानते-देखते हैं। इस भेद का कारण हमारे मन मे है। यह तर्क बहुत गम्भीर नही है। हमारा ज्ञान सापेक्ष होता है। इसलिए एक वस्तु को अनेक लोग अनेक रूपो मे जानते-देखते है। देश, काल, वातावरण, रुचि, पूर्व-मान्यता, झुकाव, मन की ग्रहणशक्ति का तारतम्य आदि मिलकर सापेक्षता का निर्माण करते हैं। इस सापेक्षदृष्टि से वस्तुवादियो का यह सत्यांश समर्थिक होता है कि वस्तु की सत्ता हमारे मन मे नही है। बर्ट्रेण्ड रसेल की यह उक्ति महत्त्वपूर्ण है कि 'वृक्ष हमारे मन मे नही है। वृक्ष का विचार मन में है, किन्तु वृक्ष नही।'

वस्तु की सत्ता मन से स्वतन्त्र होने पर भी उसमे ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध हो सकता है। एफ० सी० एस० शिलर ने प्रत्ययवादी होते हुए भी इसे स्वीकृति दी है उनका अभ्युपगम है कि जिस प्रकार वस्तु के लिए मन की आवश्यकता है उसी प्रकार मन को मनन करने के लिए वस्तु की

आवश्यकता है। अनेकान्त दर्शन ने जात्यन्तर के सिद्धान्त की स्थापना की। उसका तात्पर्य यह है कि भेद और अभेद जैसा स्वतन्त्र गुण कोई नही है। जहा भेद है वहा अभेद है और जहां अभेद है वहा भेद है। भेदाभेद ही वास्तविक है। ज्ञाता ज्ञेय से सर्वथा भिन्न नही है। यदि वह ज्ञेय से सर्वथा भिन्न हो तो उनमे ज्ञाता और ज्ञेय का सम्वन्ध नही हो सकता। यदि वह सर्वथा अभिन्न हो तो भी उनमे ज्ञाता और ज्ञेय का सम्वन्व नही हो सकता। वे भिन्न-भिन्न है। ज्ञाता और ज्ञेय का अस्तित्व एक-दूसरे पर निर्भर नही है, इसलिए वे स्वतन्त्र हैं। ज्ञाता और ज्ञेय का सम्वन्ध परस्पराश्रित है, इसलिए परस्पराधीन है। शेलिंग[1] का यह तर्क—'विषयो की सिद्धि पर उनकी ज्ञाता आत्मा की सिद्धि और ज्ञाता की सिद्धि पर उनके ज्ञेय विषयो की सिद्धि निर्भर है, अर्थपूर्ण नही है। मूल आधार अस्तित्व है। ज्ञाता और ज्ञेय एक सम्वन्ध है। अस्तित्व होने पर सम्वन्ध होता है। सम्वन्ध से अस्तित्व नही होता। 'होना' और 'सिद्ध होना'—दोनो एक वात नही है। परमाणु के सिद्ध होने से पूर्व वह नही था यह नही माना जा सकता। सिद्धि ज्ञान के विकास पर निर्भर है। किन्तु अस्तित्व ज्ञान पर निर्भर नही है। उसकी निर्भरता अपने मौलिक गुणो पर है।

हम केवल पौद्गलिक वस्तु को ही नही जानते, चेतन द्रव्य को भी जानते है। ज्ञाता चेतन ही होता है, किन्तु ज्ञेय चेतन और अचेतन—दोनो हो सकते है। जैसे पौद्गलिक वस्तु ज्ञान से स्वतन्त्र है वैसे ही एक आत्मा से दूसरी आत्माए स्वतन्त्र है। आत्माएं अनेक है। इसलिए जो आत्मा दूसरो का ज्ञान करते समय ज्ञाता होती है वही दूसरी आत्मा के द्वारा ज्ञेय हो जाती है। पौद्गलिक वस्तु मे केवल ज्ञेय धर्म होता है, किन्तु आत्मा मे ज्ञाता और ज्ञेय—ये दोनो धर्म होते हैं। महान् दार्शनिक कान्ट का यह वाक्य—'विचार को वस्तु नही वनाना चाहिए' जितना सत्य है उतना ही यह सत्य है कि 'वस्तु को विचार नही वनाना चाहिए'। अनेकान्तवाद ने विचार और वस्तु—दोनो की सापेक्ष व्याख्या की है। परम अस्तित्व के जगत् मे विचार और वस्तु का भेद नही है। अपर अस्तित्व के जगत् मे विचार से वस्तु भिन्न है। प्रत्ययवादी शेलिंग ने यह स्वीकार किया है कि आत्मा और अनात्मा एक-दूसरे के लिए आवश्यक है। एक ही स्थिति दूसरे के विना नही हो सकती।[2] इस स्वीकार को अनेकान्तवाद का समर्थन मिलता है। उसके अनुसार जो सत् है वह अप्रतिपक्ष सहित होता है। प्रतिपक्ष के विना पक्ष की सिद्धि नही हो सकती। इस स्थिति मे **वस्तुवाद** भी

१. पाश्चात्य दर्शनो का इतिहास, पृष्ठ १७५।
२. पाश्चात्य दर्शनो का इतिहास, पृष्ठ १८१।

सत्यांश है। प्रत्ययवाद और वस्तुवाद एक-दूसरे से निरपेक्ष होकर असत्यांश हो जाते है और परस्पर-सापेक्ष होकर सत्यांश वन जाते हैं। परम अस्तित्व की स्वीकृति के विना वस्तु और उसके पारस्परिक सम्वन्धों के मूल आधार की व्याख्या नही की जा सकती। वस्तु की स्वतन्त्रता की स्वीकृति के विना विशिष्ट गुणो की व्याख्या नही की जा सकती। इन दोनो की सामजस्यपूर्ण व्याख्या परम अस्तित्व और वस्तु की स्वतंत्रता की सापेक्ष स्वीकृति द्वारा ही की जा सकती है।

परिणामि-नित्य

आधी चल रही है। उसमे जितनी शक्ति आज है, उतनी ही कल होगी, यह नही कहा जा सकता। जो कल थी, उसका आज होना जरूरी नही है और जो आज है उसका आने वाले कल मे होना जरूरी नहीं है। इस दुनिया मे एकरूपता के लिए कोई अवकाश नही है। जिसका अस्तित्व है, वह बहुरूप है। जो बाल आज सफेद है, वे कभी काले रहे है। जो आज काले हैं, वे कभी सफेद होने वाले है। वे एकरूप नही रह सकते। केवल बाल ही क्या, दुनिया की कोई भी वस्तु एकरूप नही रह सकती। जैन दर्शन ने अनेकरूपता के कारणो पर गहराई से विचार किया है, अन्तर्बोध से उसका दर्शन किया है। विचार और दर्शन के बाद एक सिद्धान्त की स्थापना की। उसका नाम है 'परिणामि-नित्यत्ववाद'।

इस सिद्धान्त के अनुसार विश्व का कोई भी तत्त्व सर्वथा नित्य नही है और कोई भी तत्त्व सर्वथा अनित्य नही है। प्रत्येक तत्त्व नित्य और अनित्य—इन दोनो धर्मों की स्वभाविक समन्विति है। तत्त्व का अस्तित्व ध्रुव है, इसलिए वह नित्य है। ध्रुव परिणमन-शून्य नही होता और परिणमन ध्रुव-शून्य नही होता। इसलिए वह अनित्य भी है। वह एकरूप मे उत्पन्न होता है और एक अवधि के पश्चात् उस रूप से च्युत होकर दूसरे रूप मे बदल जाता है। इस अवस्था मे प्रत्येक तत्त्व उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इन तीन धर्मों का समवाय है। उत्पाद और व्यय—ये दोनो परिणमन के आधार बनते है और ध्रौव्य—उनका अन्वयी-सूत्र है। वह उत्पाद की स्थिति मे भी रहता है और व्यय की स्थिति मे भी रहता है। वह दोनो को अपने साथ जोड़े हुए है। जो रूप उत्पन्न हो रहा है, वह पहली बार ही नही हो रहा है। और जो नष्ट हो रहा है, वह भी पहली बार ही नही हो रहा है। उससे पहले वह अनगिन बार उत्पन्न हो चुका है और नष्ट हो चुका है। उसके उत्पन्न होने पर अस्तित्व का सृजन नही हुआ और नष्ट होने पर उसका विनाश नही हुआ। ध्रौव्य उत्पाद और व्यय को एक क्रम देता है किन्तु अस्तित्व की मौलिकता मे कोई अन्तर नही आने देता। अस्तित्व की मौलिकता समाप्त नही होती। इस बिन्दु को पकडने वाले 'कूटस्थ नित्य' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। अस्तित्व के समुद्र मे होने वाली ऊर्मियो को पकड़ने

वाले 'क्षणिकवाद' के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं। जैन दर्शन ने इन दोनो को एक ही धारा में देखा, इसलिए उसने परिणामि-नित्यत्ववाद के सिद्धांत का प्रतिपादन किया।

भगवान् महावीर ने प्रत्येक तत्त्व की व्याख्या परिणामि-नित्यत्ववाद के आधार पर की। उसने पूछा—आत्मा नित्य है या अनित्य? पुद्गल नित्य है या अनित्य? उन्होने एक ही उत्तर दिया—अस्तित्व कभी समाप्त नही होता। इस अपेक्षा से वे नित्य है। परिणमन का क्रम कभी अवरुद्ध नही होता, इस दृष्टि से वे अनित्य है। समग्रता की भाषा मे वे न नित्य हैं और न अनित्य, किन्तु नित्यानित्य है।

तत्त्व मे दो प्रकार के धर्म होते है—सहभावी और क्रमभावी। सहभावी धर्म तत्त्व की स्थिति के और क्रमभावी धर्म उसकी गतिशीलता के सूचक होते है। सहभावी धर्म 'गुण' और क्रमभावी धर्म 'पर्याय' कहलाते है। जैन दर्शन का प्रसिद्ध सूत्र है कि द्रव्य-शून्य पर्याय और पर्याय-शून्य द्रव्य नही हो सकता। एक जैन मनीषी ने कूटस्थनित्यवादियो से पूछा—पर्याय-शून्य द्रव्य किसने देखा? कहां देखा? कब देखा? किस रूप मे देखा? कोई बताये तो सही। उन्होने ऐसा ही प्रश्न क्षणिकवादियो से पूछा कि वे बताए तो सही कि द्रव्य-शून्य पर्याय किसने देखा? कहा देखा? कब देखा? किस रूप मे देखा? अवस्थाविहीन अवस्थावान् और अवस्थावान्‌विहीन अवस्थाए ये दोनो तथ्य घटित नही हो सकते। जो घटना-क्रम चल रहा है, उसके पीछे कोई स्थाई तत्त्व है। घटना-क्रम उसी मे चल रहा है। वह उससे बाहर नही है। तालाब मे एक कंकर फेका और तरंगे उठी। तालाब का रूप बदल गया। जो जल शात था, वह क्षुब्ध हो गया, तरगित हो गया। तरग जल मे है। जल मे भिन्न तरंग का कोई अस्तित्व नही है। जल मे तरंग उठती है इसलिए हम कह सकते है कि तालाब तरगित हो गया। तरंगित होना एक घटना है। वह विशेष अवस्थावान् मे घटित होती है। जलाशय नही है तो जल नही है। जल नही है तो तरग नही है। तरग का होना जल के होने पर निर्भर है। जल हो और तरग न हो—ऐसा भी नहीं हो सकता। जल का होना तरग होने के साथ जुडा हुआ है। जल और तरग—दोनो एक-दूसरे मे निहित है— जल मे तरंग और तरग में जल।

द्रव्य पर्याय का आधार होता है। वह अव्यक्त होता है, पर्याय व्यक्त। हम द्रव्य कहां देख पाते है। हम देखते पर्याय को। हमारा जितना ज्ञान है, वह पर्याय का ज्ञान है। मेरे सामने एक मनुष्य है। वह एक द्रव्य है। मैं उसे नही जान सकता। मैं उसके अनेक पर्यायो मे से एक पर्याय को जानता हूं और उसके माध्यम से यह जानता हू कि यह मनुष्य है। जब आख से उसे देखता हूं तो उसकी आकृति और वर्ण—इन दो पर्यायो के

आधार पर उसे मनुष्य कहता हूं। कान से उसका शब्द सुनता हू, तब उसे शब्द-पर्याय के आधार पर मनुष्य कहता हूं। उसकी समग्रता को मैं कभी नही पकड पाता। आम को कभी मैं रूप-पर्याय से जानता हू, कभी गध-पर्याय से और कभी रस-पर्याय से। किन्तु सब पर्यायो से एक साथ जानने का मेरे पास कोई साधन नही है। आख जब रूप को देखती है तो गध और रस आदि पर्याय नीचे चले जाते है। गध का पर्याय जब जाना जाता है तब रूप का पर्याय नीचे चला जाता है। इस समग्रता के सन्दर्भ मे मैं कहता हूं कि मैं द्रव्य को नही देखता हू, केवल पर्याय को देखता हू और पर्याय के आधार पर द्रव्य का बोध करता हू।

हमारा पर्याय का जगत् बहुत लम्बा-चौडा है और द्रव्य का जगत् बहुत छोटा है। एक द्रव्य और अनन्त पर्याय। प्रत्येक द्रव्य पर्यायो के वलय से घिरा हुआ है। प्रत्येक द्रव्य पर्यायो के पटल मे छिपा हुआ है। उसका बोध कर द्रव्य को देखना इन्द्रिय ज्ञाय के लिए सम्भव नही है।

परिणमन स्वभाव से भी होता है और प्रयोग से भी। स्वाभाविक परिणमन अस्तित्व की आन्तरिक व्यवथा से होता है प्रायोगिक परिणमन दूसरे के निमित्त से घटित होता है। निमित्त मिलने पर ही परिणनन होता है, ऐसी बात नही है। परिणमन का क्रम निरन्तर चालू रहता है। काल उसका मुख्य हेतु है। वह (काल) प्रत्येक अस्तित्व का एक आयाम है। वह परिणमन का आतरिक हेतु है इसलिए प्रत्येक अस्तित्व मे व्याप्त होकर वह अस्तित्व को परिणमनशील रखता है स्वाभाविक परिणमन सूक्ष्म होता है। वह इन्द्रियो की पकड मे नही आता, इसीलिए अस्तित्व मे होने वाले सूक्ष्म परिवर्तनो की इन्द्रिय ज्ञान के स्तर पर व्याख्या नही की जा सकती। जीव और पुद्‌गल के पारस्परिक निमित्तो से जो स्थूल परिर्वतन घटित होता है, हम उस परिवर्तन को देखते है और उसके कार्य-कारण की व्याख्या करते हैं कोई आदमी बीमारी से मरता है, कोई चोट से, कोई आघात से और कोई दूसरे के द्वारा मारने पर मरता है। बीमारी नही, चोट नही, आघात नही और कोई मारने वाला भी नही, फिर भी वह मर जाता है जो जन्मा है, उसका मरना निश्चित है। मृत्यु एक परिवितंन है। जीवन मे उसकी आतरिक व्यवस्था निहित है। मनुष्य जन्म के पहले क्षण मे ही मरने लग जाता है। जो पहले क्षण मे नही मरता, वह फिर कभी नही मर सकता। जो एक क्षण अमर रह जाए, फिर उसकी मृत्यु नही हो सकती। बाहरी निमित्त से होने वाली मौत की व्याख्या बहुत सरल है। शारीरिक और मानसिक क्षति से होने वाली मौत की व्याख्या उससे कठिन है। किन्तु पूर्ण स्वस्थ दशा मे होने वाली मौत की व्याख्या वैज्ञानिक या अतीन्द्रिय ज्ञान के स्तर पर ही की जा सकती है।

कुछ दार्शनिक सृष्टि की व्याख्या ईश्वरीय रचना के आधार पर करते है। किन्तु जैन दर्शन उसकी व्याख्या जीवन और पुद्गल के स्वाभाविक परिणमन के आधार पर करता है। सृजन, विकास या प्रलय जो कुछ भी घटित होता है, वह जीव और पुद्गल की पारस्परिक प्रतिक्रियाओ से घटित होता है। काल दोनो का साथ देता ही है। व्यक्त घटनाओ मे वाहरी निमित्त भी अपना योग देते है। सृष्टि का अव्यक्त और व्यक्त - समग्र परिवर्तन उसके अपने अस्तित्व मे स्वय सन्निहित है।

परिणमन सामुदायिक और वैयक्तिक—दोनो स्तर पर होता है। पानी मे चीनी घोली और वह मीठा हो गया। यह सामुदायिक परिवर्तन है। आकाश मे वादल मडराए और एक विशेष अवस्था का निर्माण हो गया। भिन्न-भिन्न परमाणु-स्कन्ध मिले और वादल वन गया। कुछ परिणमन द्रव्य के अपने अस्तिव मे ही होते है। अस्तित्वगत जितने परिणमन होते है, वे सव वैयक्तिक होते है पाच अस्तिकाय (अस्तित्व) है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, और आकाशास्तिकाय मे स्वाभाविक परिवर्तन ही होता है। जीव और पुद्गल मे स्वाभाविक और प्रायोगिक—दोनो प्रकार के परिवर्तन होते है। इनका स्वाभाविक परिवतन वैयक्तिक ही होता है। किन्तु प्रायोगिक परिवर्तन सामुदायिक भी होता है। जितना स्थूल जगत् है वह सव इन दो द्रव्यो के सामुदायिक परिवर्तन द्वारा ही निर्मित है। जो कुछ दृश्य है, उसे जीवो ने अपने शरीर के रूप मे रूपायित किया है। इस इन शब्दो मे भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि हम जो कुछ देख रहे है वह या तो जीवच्छरीर है या जीवो द्वारा व्यक्त शरीर है।

प्रत्येक अस्तित्व का प्रचय (काय, प्रदेश राशि) होता है। पुद्गल को छोडकर शेप चार अस्तित्वो का प्रचय स्वभावतः अविभक्त है। उसमे सघटन और विभाजन नही होता। पुद्गल का प्रचय स्वभाव से अविभक्त नही होता। उसमे सघटन और विघटन—ये दोनो घटित होते है। एक परमाणु का दूसरे परमाणुओ के साथ योग होने पर स्कन्ध के रूप मे रूपान्तरण हो जाता है और उस स्कन्ध के सारे परमाणु वियुक्त होकर केवल परमाणु रह जाते है। वास्तविक अर्थ मे सामुदायिक परिणमन पुद्गल मे ही होता है। दृश्य अस्तित्व केवल पुद्गल ही है। जगत् के नानारूप उसी के माध्यम से निर्मित होते है। यह जगत् एक रगमच है। उस पर कोई अभिनय कर रहा है तो वह पुद्गल ही है। वही विविध रूपो मे परिणत होकर हमारे सामने प्रस्तुत होता है। उसमे जीव का योग भी होता है, किन्तु उसका मुख्य पात्र पुद्गल ही है।

अस्तित्व मे परिवर्तित होने की क्षमता है। जिसमे परिवर्तित होने की क्षमता नही होती, वह दूसरे क्षण मे अपनी सत्ता को वनाए नही रख

सकता। अस्तित्व दूसरे क्षण मे रहने के लिए उसके अनुरूप अपने आप मे परिवर्तन करता है और तभी वह दूसरे क्षण मे अपनी सत्ता को बनाए रख सकता है। एक परमाणु अनन्तगुना काला है। वही परमाणु एकगुना काला हो जाता है। जो एकगुना काला होता है, वह कभी अनन्तगुना काला हो जाता है। यह परिवर्तन बाहर से नही आता। यह द्रव्यगत परिवर्तन है। इसमे भी अनन्तगुणहीन और अनन्तगुण अधिक तारतम्य होता रहता है। अनन्तकाल के अनन्त क्षणो और अनन्त घटनाओ मे किसी भी द्रव्य को अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए अनन्त परिणमन करना आवश्यक है। यदि उसका परिणमन अनन्त न हो तो अनन्तकाल मे वह अपने अस्तित्व को बनाए नही रख सकता।

अस्तित्व मे अनन्त धर्म होते है, कुछ अव्यक्त और कुछ व्यक्त। प्रश्न हुआ कि क्या घास मे घी है ? इसका उत्तर होगा घास मे घी है, किन्तु व्यक्त नही है। क्या दूध मे घी है ? दूध मे घी है, पर पूर्ण व्यक्त नही है। दूध को बिलोया या दही बनाकर बिलोया, घी निकल आया। अव्यक्त धर्म व्यक्त हो गया। द्रव्य मे 'ओघ' और 'समुचित'—ये दो प्रकार की शक्तिया काम करती है। 'ओघ' नियामक शक्ति है। उसके आधार पर कारण-कार्य के नियम की स्थापना की जाती है। कारण कार्य के अनुरूप ही होता है। कारण अव्यक्त रहता है, कार्य व्यक्त होता है। अब आप पूछे कि घास मे घी है या नही ? तो उत्तर होगा—'ओघ' शक्ति की दृष्टि मे है, किन्तु 'समुचित' शक्ति की दृष्टि से नही है। पुद्गल द्रव्य मे वर्ण, गध, रस और स्पर्श—ये चारो मिलते हैं। गुलाब के फूल मे जितनी सुगध है, उतनी ही दुर्गन्ध है। किंतु उसमे सुगन्ध व्यक्त है और दुर्गन्ध अव्यक्त। चीनी जितनी मीठी है, उतनी ही कडवी है। किंतु उसमे मिठास व्यक्त है और कडवाहट अव्यक्त। सडान मे जितनी दुर्गन्ध है, उतनी सुगन्ध भी छिपी हुई है। राजा जितशत्रु नगर से बाहर जा रहा था। मत्री सुबुद्धि उसके साथ था। एक खाई आई। उसमे जल भरा था। वह कूडे-करकट से गदा हो रहा था। उसमे मृत पशुओ के कलेवर सड रहे थे। दूर तक दुर्गन्ध फूट रही थी। राजा ने कपडा निकाला और नाक को दबा लिया। 'कितनी दुर्गन्ध आ रही है !' राजा ने मत्री की ओर मुडकर कहा। मत्री तत्त्ववेत्ता था। उसने कहा—'महाराज ! यह पुद्गलो का स्वभाव है।' उसने राजा के भाव की तीव्रता को अपनी भावभगी से मद कर दिया। बात वही समाप्त हो गई। कुछ दिनो बाद मत्री ने राजा को अपने घर भोजन के लिए निमत्रित किया। भोजन के मध्य राजा ने पानी पीया—अत्यन्त निर्मल, अत्यन्त मधुर और अत्यन्त सुगन्धित। राजा बोला—'मत्री ! यह पानी तुम कहा से लाते हो ? इच्छा होती है एक गिलास और पीऊ। मैं तुम्हे अभिन्न मानता हूं, किन्तु तुम मुझे

वैसा नही मानते। तुम इतना अच्छा पानी पीते हो, मुझे कभी नही पिलाते।' मंत्री मुस्कराया और बोला—'महाराज ! यह पानी उस खाई से लाता हू जहा आपने नाक-भौं सिकोड़ी थी और कपड़े से नाक ढंकी थी।' राजा ने कहा—'यह नही हो सकता। यह पानी उस खाई का कैसे हो सकता है?' मत्री अपनी बात पर अटल रहा। राजा ने उसका प्रमाण चाहा। मत्री ने उस खाई का पानी मगवाया। राजा की देख-रेख मे सारी प्रक्रियाए चलीं और वह पानी वैसा ही निर्मल, मधुर और सुगधित हो गया जैसा राजा ने मंत्री के घर पीया था। केवल पानी ही क्या, हर वस्तु बदलती है। परिणमन का चक्र चलता रहता है, वस्तुए बदलती रहती है। 'ओघ' शक्ति की दृष्टि से हम किसी पौद्गलिक पदार्थ को काला या पीला, खट्टा या मीठा, सुगधमय या दुर्गंधमय, चिकना या रूखा, ठंडा या गर्म, हल्का या भारी, मृदु या कर्कश नही कह सकते। एक नीम के पत्ते मे वे सारे धर्म विद्यमान है जो दुनिया मे होते है। किंतु 'समुचित' शक्ति की दृष्टि से ऐसा नही है। उसके आधार पर देखें तो नीम पत्ता हरा है, चिकना है। उसकी अपनी एक सुगंध है। वह हल्का है और मृदु है। हमारा जितना दर्शन है, वह आनुभविक और प्रात्ययिक है।

पर्याय-परिवर्तन के द्वारा वस्तुओ मे बहुत सारी बाते घटित होती है। उनमे ऊर्जा की वृद्धि और हानि भी है। ऊर्जा परिणमन के द्वारा ही प्रकट होती है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने इस सिद्धात का प्रतिपादन किया कि द्रव्य (*Mass*) को शक्ति (*Energy*) मे और शक्ति को द्रव्य मे बदला जा सकता है। इस द्रव्यमान, द्रव्य-सहति और शक्ति के समीकरण के सिद्धात की व्याख्या परिणामि-नित्यवाद के द्वारा ही की जा सकती है। आइन्स्टीन से पहले वैज्ञानिक जगत् मे यह माना जाता था कि द्रव्य को शक्ति मे और शक्ति को द्रव्य मे नही बदला जा सकता। दोनों स्वतत्र है। किंतु आइन्स्टीन के बाद यह सिद्धात बदल गया। वह माना जाने लगा कि द्रव्य और शक्ति—ये दोनो भिन्न नही किंतु एक ही वस्तु के रूपान्तरण है। एक पौंड कोयला लें और उसकी द्रव्य-सहति को शक्ति मे बदलें तो दो अरब किलोवाट की विद्युत् शक्ति प्राप्त हो सकती है।

जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य मे अनन्त शक्ति है। वह द्रव्य चाहे जीव हो या पुद्गल। काल की अनन्त धारा मे वही द्रव्य अपना अस्तित्व रख सकता है जिसमे अनन्त शक्ति होती है। वह शक्ति परिणमन के द्वारा प्रकट होती रहती है। आज के वैज्ञानिक जगत् मे जितना प्रयोग हो रहा है, उसका क्षेत्र पौद्गलिक जगत् है। पौद्गलिक वस्तु को उस स्थिति मे ले जाया जा सकता है, जहा उसकी स्थूलता समाप्त हो जाए, उसका द्रव्य-मान या द्रव्य-संहति समाप्त हो जाए और उसे शक्ति के रूप मे बदल दिया जाए।

जैन दर्शन ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—इन दो नयो से विश्व की व्याख्या की है हम विश्व को अभेद की दृष्टि से देखते है तव हमारे सामने द्रव्य होता है। यह नीम, मकान, आदमी, पशु—ये द्रव्य ही द्रव्य हमारे सामने प्रस्तुत है। हम विश्व को जब भेद या विस्तार की दृष्टि मे देखते हैं तब वह द्रव्य लुप्त हो जाता है। हमारे सामने होता है—पर्याय और पर्याय। परिणमन और परिणमन। आदमी कौन होता है ? आदमी कोई द्रव्य नही है। आदमी है कहा ? आप सारी दुनिया मे ढूढें, आदमी नाम का कोई द्रव्य आपको नही मिलेगा। आदमी एक पर्याय है। नीम कोई द्रव्य नही है। वह एक पर्याय है। दुनिया मे जितनी वस्तुओ को हम देख रहे हैं, वे सारी की सारी पर्यायें है हम पर्याय को देख रहे है। द्रव्य हमारे सामने नही आता। वह आखो से ओझल रहता है। इस सत्य को आचार्य हेमचन्द्र ने इन शब्दो मे प्रकट किया था—

अपर्ययं वस्तु समस्यमान-
मद्रव्यमेतच्च विविच्यमान।'

—हम अभेद के परिपार्श्व मे चलें तो पर्याय लुप्त हो जाएगा, बचेगा द्रव्य। हमारी दुनिया बहुत छोटी हो जाएगी। विस्तार शून्य हो जाएगी। हम भेद के परिपार्श्व मे चलें तो द्रव्य लुप्त हो जाएगा, बचेगा पर्याय। हमारी दुनिया बहुत बडी हो जाएगी। भेद अभेद को निगल जाएगा। केवल विस्तार और विस्तार।

परिणमन के जगत् मे जैसा जीव है, वैसा ही पुद्गल है। किन्तु इस विश्व मे जितनी अभिव्यक्ति पुद्गल द्रव्य की है, उतनी किसी मे नही है। अपने रूप को बदल देने की क्षमता जितनी पुद्गल मे है, उतनी किसी मे नही है। हमारे जगत् मे व्यक्त पर्याय का आधारभूत द्रव्य यदि कोई है तो वह पुद्गल ही है।

१२

तत्त्ववाद

इस जगत् मे जो है वह तत्त्व है, जो नही है वह तत्त्व नही है। होना ही तत्त्व है, नही होना तत्त्व नही है। तत्त्व का अर्थ है—होना।

विश्व के सभी दार्शनिको और तत्त्ववेत्ताओ ने अस्तित्त्व पर विचार किया। उन्होने न केवल उस पर विचार किया, उसका वर्गीकरण भी किया। दर्शन का मुख्य कार्य है—तत्त्वो का वर्गीकरण।

नैयायिक, वैशेपिक, मीमांसा और अद्वैत—ये मुख्य वैदिक दर्शन हैं। नैयायिक सोलह तत्त्व मानते है। वैशेपिक के अनुसार तत्त्व छह हैं। मीमांसा कर्म-प्रधान दर्शन है। उसका तात्त्विक वर्गीकरण वहुत सूक्ष्म नही है। अद्वैत के अनुसार पारमार्थिक तत्त्व एक परम ब्रह्म है। सांख्य प्राचीनकाल मे श्रमण-दर्शन था और वर्तमान मे वैदिक दर्शन मे विलीन है। उसके अनुसार तत्त्व पचीस है। चार्वाक दर्शन के अनुसार तत्त्व चार है।

मालुकापुत्र भगवान् वुद्ध का शिष्य था। उसने वुद्ध से पूछा—मरने के वाद क्या होता है ? आत्मा है या नही ? यह विश्व सान्त है या अनन्त ?' वुद्ध ने कहा—'यह जानकर तुम्हे क्या करना है ?'

उसने कहा 'क्या करना है, यह जानना चाहते है ? मुझे आप उनका उत्तर दे और यदि उत्तर नही देते हैं तो मैं आपके दर्शन को छोड दूसरे दर्शन मे जाने की वात सोचू। या तो आप कहे कि मैं इन विपयो को नही जानता और यदि जानते है तो मुझे उत्तर दें। मैं सत्य को जानने के लिए आपके शासन मे दीक्षित हुआ था, किन्तु मुझे मेरी जिज्ञासा का उत्तर नही मिल रहा है।'

वुद्ध ने कहा—'मैंने कव कहा था कि मै सव प्रश्नो के उत्तर दूगा और तुम मेरे मार्ग मे चले आओ।'

मालुंकापुत्र वोला—'आपने कहा तो नही था।'

वुद्ध ने कहा—'फिर तुम मुझे आंखें क्यो दिखा रहे हो ? देखो, एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति ने वाण मारा। वह वाण से विंध गया। अब कोई व्यक्ति आता है, वैद्य आता है और कहता है वाण को निकालें और घाव को ठीक करे। किन्तु वह व्यक्ति कहता है कि मै तव तक वाण नहीं निकलवाऊंगा जव तक कि यह पता न लग जाए कि वाण किसने फेंका है ? फेंकने वाला

कितना लम्बा-चौडा है ? वह कितना शक्तिशाली है ? वह किस वर्ण का है ? बाण क्यो फेंका गया ? किस धनुष से फेंका गया ? वह धनुष कैसा है ? तूणीर कैसा है ? प्रत्यंचा कैसी है ?—ये सारी बातें मुझे जब तक ज्ञात नही हो जाती, तब तक मैं इस बाण को नही निकलवाऊगा। बोलो, इसका अर्थ क्या होगा ?'

मालुकापुत्र बोला—'वह मर जाएगा। बाण के निकालने से पहले ही मर जाएगा। वह जीवित नही रह सकेगा।'

बुद्ध ने कहा—'इसीलिए मैं कहता हू कि बाण को निकालने की जरूरत है। बाण किसने बनाया, कहा से आया, किस प्रकार से फेंका गया, किस धनुष से फेंका गया, इन कल्पनाओ मे उलझने की तुम्हें कोई जरूरत नही है। जिन बातो मे उलझने की जरूरत है, उन्ही मे उलझो। दुःख क्या है ? दुःख का हेतु क्या है ? निर्वाण क्या है और निर्वाण का हेतु क्या है ? ये चार आर्य-सत्य क्या है ? इन्ही को जानने का प्रयत्न करो।

पूर्व-प्रतिपादित वर्गीकरण और मीमासाओ के सदर्भ मे मैं भगवान् महावीर का तात्त्विक वर्गीकरण का विश्लेषण करूगा। प्रारभ मे एक धारा की ओर मैं इगित करना चाहता हू। वर्तमान युग के कुछ इतिहासज्ञ और कुछ दार्शनिक जैन दर्शन को वैशेषिक, साख्य आदि दर्शनो का ऋणी मानते है। कुछ विद्वान् लिखते है कि परमाणुवाद महर्षि कणाद की देन है। जैन दर्शन ने उसका अनुसरण किया है। कुछ विद्वान् लिखते हैं—जैन दर्शन साख्य दर्शन का ही रूपान्तर है। उसका तत्त्ववाद मौलिक नही है। ये धारणाए क्यो चलती है ? इनका रहस्य खोजना जरूरी है। वे विद्वान् लेखक या तो इतिहास के कक्ष तक पहुचने का तीव्र प्रयत्न नही करते या वे साम्प्रदायिक भावना को पुष्ट करने का प्रयत्न कर रहे हैं। दोनो मे से एक बात अवश्य है।

मालिक ने नौकर से कहा—'जाओ, बगीचे मे पानी सीच आओ।' नौकर बोला—'महाशय! इसकी जरूरत नही है। वर्षा हो रही है तब पानी सीचकर क्या करू ? मालिक ने कहा—'वर्षा से डरते हो तो छाता ले जाओ। पानी तो सीचना ही होगा।' अब आप देखिये, वर्षा हो रही है, फिर पानी सीचने की क्या जरूरत है ? कोई नही। किन्तु मालिक कह रहा है कि वर्षा हो रही है तो होने दो। भीगने का डर लगता है तो छाता ले जाओ। पर पानी सीचना ही होगा। उसके सामने छाते की उपयोगिता है। वह उसी को समझा रहा है। वर्षा मे जो सहज सिंचन हो रहा है, उसे या तो वह समझ नही पा रहा है या जान-बूझकर नकार रहा है। मुझे लगता है कि यह एक प्रवाह है कि छाते की बात सुझाई जा रही है और पानी स्वय सिंचित है उसे स्वीकृत नही किया जा रहा है।

महर्षि कणाद ने वैशेषिक सूत्र भगवान् महावीर के बाद लिखा था। सांख्य दर्शन का विकास भगवान् पार्श्व के बाद और भगवान् महावीर के आस-पास हुआ था। किन्तु तत्त्व के विषय मे सांख्य और जैन दर्शन का दृष्टिकोण स्वतन्त्र है। इसलिए तत्त्व के वर्गीकरण मे साख्य दर्शन जैन दर्शन का आभारी है या जैन दर्शन साख्य दर्शन का आभारी है, यह नही कहा जा सकता। साख्य दर्शन सृष्टिवादी है और सृष्टिवादी की कल्पना उसके तात्त्विक वर्गीकरण के साथ जुडी हुई है। जैन दर्शन द्रव्य-पर्यायवादी है। उसके वर्गीकरण मे कुछ तत्त्व ऐसे है जो साख्य के प्रकृति और पुरुष—इन दोनो से सर्वथा भिन्न है।

भगवान् महावीर ने पांच अस्तिकाओ का प्रतिपादन किया। राजगृह के बाहर गुणशिलक नाम का चैत्य था। उसकी थोडी दूरी पर परिव्राजको का एक 'आवसथ' था। उसमे कालोदायी आदि अनेक परिव्राजक रहते थे। एक बार भगवान् महावीर राजगृह पधारे, गुणशिलक मे ठहरे। राजगृह मे 'मद्दुक' नाम का श्रमणोपासक रहता था। वह भगवान् को वन्दना करने के लिए आ रहा था। परिव्राजको ने उसे देखा, अपने पास बुलाया और कहा—'तुम्हारे धर्माचार्य श्रमण महावीर पाच अस्तिकाओ का प्रतिपादन करते है। तुम जानते हो, देखते हो ?'

मद्दुक ने कहा—'जो पदार्थ कार्य करता है, उसे हम जानते है, देखते है और जो पदार्थ कार्य नहीं करता, उसे हम नही जानते, नही देखते।'

परिव्राजक बोले—'तुम कैसे श्रमणोपासक हुए जो तुम अपने धर्माचार्य के द्वारा प्रतिपादित अस्तिकाओ को नही जानते, नही देखते।'

उनका व्यग सुन मद्दुक बोला—

'आयुष्मान् ! क्या हवा चल रही है ?'

'हां, चल रही है।'

'क्या चलती हुई हवा का आप रूप देख रहे है ?'

'नही।'

'आयुष्मान् ! हम हवा को नहीं देखते किन्तु हिलते हुए पत्तो को देखकर हम जान लेते है कि हवा चल रही है।'

'फूलो की भीनी सुगन्ध आ रही है ?'

'हां, आ रही है।'

'सुगन्ध के परमाणु हमारी नासा मे प्रविष्ट हो रहे है ?'

'हा, हो रहे है।'

'क्या आप नासा मे प्रविष्ट सुगन्ध के परमाणुओं का रूप देख रहे है ?'

'नही।'

'आयुष्मान् ! अरणि की लकडी मे अग्नि है ?'

'हा, है।'

'क्या आप अरणि मे छिपी हुई अग्नि का रूप देख रहे हैं ?'

'नही।'

'आयुष्मान् ! क्या समुद्र के उस पार रूप है ?'

'हा, है।'

'क्या आप समुद्र के पारवर्ती रूपो को देख रहे है ?'

'नही।'

'आयुष्मान् ! मैं या आप, कोई भी परोक्षदर्शी सूक्ष्म, व्यवहित और दूरवर्ती वस्तु को नही जानता, नही देखता किन्तु वह सब नहीं होता, ऐसा नही है। हमारे ज्ञान की अपूर्णता द्रव्य के अस्तित्व को मिटा नही सकती। यदि मैं पाचो अस्तिकायो को साक्षात् नही जानता-देखता, इसका अर्थ यह नही होता है कि वे नही हैं। भगवान् महावीर ने प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा उनका साक्षात् किया है, उन्हे जाना-देखा है, इसलिए वे उनका प्रतिपादन कर रहे है।'

इस प्रसग से जाना जा सकता है कि पचास्तिकाय का वर्गीकरण अन्य-तीर्थिको के लिए कुतूहल का विषय था। इस विषय मे वे जानते नही थे।उन्होने इस विषय मे कभी सुना-पढा नही था। यह उनके लिए सर्वथा नया विषय था। मद्दुक के तर्कपूर्ण उत्तर से भी वे अस्तिकाय का मर्म समझ नही पाए।

कुछ दिन बाद, फिर परिव्राजको की गोष्ठी जुडी। उसमे काल-दायी, शैलोदायी शैवालोदायी आदि अनेक परिव्राजक सम्मिलित थे। उनमे फिर महावीर के पचास्तिकाय पर चर्चा चली। कालोदायी ने कहा—'श्रमण महवीर पाच अस्तिकायो का प्रतिपादन करते हैं—धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय। वे कहते है कि चार अस्तिकाय अजीव हैं, एक जीवास्तिकाय जीव है। चार अस्तिकाय अमूर्त है, एक पुद्गलास्तिकाय मूर्त है यह कैसे हो सकता है।' उस समय भगवान् महावीर के ज्येष्ठ शिष्य गौतम राजगृह से गुणशिलक चैत्य की ओर जा रहे थे। उन परिव्राजको ने गौतम को देखा और वे परस्पर बोले—'देखो, वे गौतम जा रहे हैं। महावीर का इनसे अधिक अधिकृत व्यक्ति कौन मिलेगा ? अच्छा है हम उनके पास चले और अपनी जिज्ञासा को उनके सामने रखें।' उस समय एक सन्यासी दूसरे सन्यासी के पास मुक्तभाव से चले जाता,बुला लेता, अपने स्थान मे आमंत्रित कर लेता —इसमे कोई कठिनाई नही थी मुक्तभाव और मुक्त वातावरण था। इसलिए परिव्राजको को गौतम के पास जाने मे कोई कठिनाई नही हुई। वे

सब उठे और गौतम के पास पहुच गए। उन्होंने ने कहा—'तुम्हारे धर्माचार्य ने पंचास्तिकाय का प्रतिपादन किया है। क्या यह युक्ति-संगत है ?'

गौतम ने उनसे कहा—'आयुष्मान् परिव्राजको ! हम अस्ति को नास्ति नही कहते और नास्ति को अस्ति नही कहते। हम सम्पूर्ण अस्तिभाव को अस्ति कहते है और सम्पूर्ण नास्तिभाव को नास्ति कहते है। तुम स्वय इस पर मनन करो और इसे ध्यान से देखो।'

गौतम परिव्राजको को संक्षिप्त उत्तर देकर आगे चले गए। कालोदायी ने सोचा—पंचास्तिकाय के विषय मे हमने मद्दुक को पूछा, फिर गौतम को पूछा। उन्होने अपने-अपने ढग से उत्तर भी दिए। पर जब महावीर स्वय यहा उपस्थित है तब क्यों न हम महावीर से ही उस विषय मे पूछे ? कालोदायी के पैर भी महावीर की दिशा में बढ गए। उस समय भगवान् महावीर महाकथा कर रहे थे। कालोदायी वहा पहुचा। भगवान् ने उसे देख कर कहा—'कालोदायी ! तुम लोग गोष्ठी कर रहे थे और उस गोष्ठी मे मेरे द्वारा प्रतिपादित पचास्तिकाय के विषय मे चर्चा कर रहे थे। क्यो, यह ठीक है न ?'

'हा, भते ! वैसा ही है जैसा कह रहे है।'

'कालोदायी ! तुम्हारी जिज्ञासा है कि मै पंचास्तिकाय का प्रतिपादन करता हू, वह कैसे ? कालोदायी ! तुम्ही बताओ, पचास्तिकाय है या नही ? यह प्रश्न किसको होता है, चेतन को या अचेतन को ? आत्मा को या अनात्मा को ?'

'भंते ! आत्मा को होता हैं।'

'कालोदायी ! जिसे तुम आत्मा कहते हो उसे मैं जीवास्तिकाय कहता हूं। जीव चेतनामय प्रदेशो का अविभक्त काय है, इसलिए मैं इसे जीवास्तिकाय कहता हूं।'

'कालोदायी ! क्या तुम जानते हो कि मछली पानी मे तैरती है ?'

'हा भते ! जानता हू।'

,तैरने की शक्ति मछली मे है या पानी मे ?

'भते ! तैरने की शक्ति मछली मे है।'

'तो क्या वह पानी बिना तैर सकती है ?

'नहीं, भते ! ऐसा नहीं हो सकता।'

'मछली को तैरने के लिए पानी की अपेक्षा है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल को गति करने के लिए तत्त्व की अपेक्षा है। जो द्रव्य जीव और पुद्गल की गति मे अपेक्षित सहयोग करता है, उसे मैं धर्मास्तिकाय कहता हूं।

मछली पानी के बाहर आती है और भूमि पर आ स्थिर हो जाती

है। स्थिर होने की शक्ति मछली मे है किन्तु भूमि उसे स्थिर होने मे सहारा देती है। जीव और पुद्गल मे स्थिति की शक्ति है उनकी स्थिति जो अपेक्षित सहयोग करता है, उस स्थिति-तत्त्व को मैं अधर्मास्तिकाय कहता हू।

'गति-तत्त्व और स्थिति-तत्त्व—दोनो अस्तिकाय हैं। इनकी अवि-भक्त प्रदेश-राशि आकाश के वृहद् भाग मे फैली हुई है। आकाश के जिस खण्ड मे ये हैं, वहा गति है, स्पन्दन है, जीवन है और परिवर्तन है। इस आकाश-खण्ड को मैं लोक कहता हू। इससे परे जो आकाश-खण्ड है, उसे मैं 'अलोक' कहता हू। लोक का आकाश-खण्ड सान्त है, ससीम है। अलोक का आकाश-खण्ड अनन्त है, असीम है।

'तुम देख रहे हो कि यह पेड, यह मनुष्य, यह मकान कही न कही टिके हुए है। तुमने देखा है कि पानी घडे मे टिकता है। घडा फूट जाता है, पानी ढुल जाता है। पानी को टिकने के लिए कोई आधार चाहिए। इसी प्रकार द्रव्यो को भी आधार की अपेक्षा होती है। एव द्रव्य अस्तित्व मे है, उसमे आधार देने की क्षमता है उसे मैं आकाशास्तिकाय कहता हू।'

'तुम देख रहे हो सामने एक पेड है। क्या देख रहे हो?'

'क्या उसकी सुगध नही आ रही है?'

'भते! है।'

इसकी कोमल पत्तियो का स्पर्श मन को आकर्षित नही करता?'

'भते! करता है।'

'कालोदायी! जिसमे वर्ण, गध, रस और स्पर्श होता है, उसे मैं पुद्गलास्तिकाय कहता हू।'

'मैंने अस्तिकायो को जाना है, देखा है। इसीलिए मैं पाच अस्तिकायो का प्रतिपादन करता हू। इनका प्रतिपादन मैं किसी शास्त्र के आधार पर नही कर रहा हू, किन्तु अपने प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर कर रहा हू।'

महावीर का आत्मिक प्रवचन सुनकर कालोदायी का मन समाहित हो गया।

यह पचास्तिकाय का वर्गीकरण मौलिक है। भारतीय दर्शनो के तात्त्विक वर्गीकरण को सामने रखकर तुलनात्मक अध्ययन करने वाला यह कहने का साहस नही करेगा कि यह वर्गीकरण दूसरो से ऋण-प्राप्त है। कुछ विद्वान् स्वल्प अध्ययन के आधार पर विचित्र-सी धारणाए बना लेते हैं और उन्हे आगे बढाते चले जाते हैं। यह बहुत ही गम्भीर चिन्तन का विषय है कि विद्वत् जगत् मे ऐसा हो रहा है।

कही न कही कोई आवरण अवश्य है। अ[illegible] सच प्रकट नही होती। मुझे एक घटना याद आ रही है [illegible] नारी

संगीत की शिक्षा देनी थी। वीणा-वादन और संगीत के लिए राजकुमार उदयन का नाम सूर्य की भांति चमक रहा था। राजा ने कूट-प्रयोग से उदयन को उपलब्ध कर लिया। राजा राजकुमारी को संगीत सिखाना चाहता था और दोनों को सम्पर्क से बचाना भी चाहता था। इसलिए दोनों के बीच में यवनिका बांध दी। दोनों के मनों में भी यवनिका बांधने की चेष्टा की। उदयन से कहा गया—'राजकुमारी अन्धी है। वह तुम्हारे सामने बैठने में सकुचाती है। अतः वह यवनिका के भीतर बैठेगी।' राजकुमारी से कहा गया—'उदयन कोढी है। वह तुम्हारे सामने बैठने में सकुचाता है अतः वह यवनिका के बाहर बैठेगा।' शिक्षा का क्रम चालू हुआ और कई दिनों तक चलता रहा। एक दिन उदयन संगीत का अभ्यास करा रहा था। राजकुमारी बार-बार स्खलित हो रही थी। उदयन ने कई बार टोका, फिर भी राजकुमारी उसके स्वरों को पकड नहीं सकी। उदयन कुछ क्रुद्ध हो गया उसने आवेश में कहा—'जरा संभलकर चलो। कितनी बार बता दिया, फिर भी ध्यान नहीं देती हो। आखिर अन्धी जो हो!' राजकुमारी के मन पर चोट लगी। वह बोखला उठी। उसने भी आवेश में कहा—'कोढी! जरा संभलकर बोलो!' उदयन ने सोचा—कोढ़ी कौन है? मैं तो कोढी नहीं हूं। फिर राजकुमारी ने कोढी कैसे कहा? राजकुमारी ने भी इसी भाषा में सोचा—मैं तो अन्धी नहीं हू। फिर उदयन ने अन्धी कैसे कहा? सचाई जानने के लिए दोनों तडप उठे। यवनिका को हटाकर देखा – कोई अन्धी नहीं है और कोई कोढी नहीं है बीच का आवरण यह धारणा बनाए हुए था कि यवनिका के इस पार अन्धापन और उस पार कोढ। आवरण हटा और दोनों बातें हट गईं। मुझे लगता है, जैन दर्शन की मौलिकताओं को समझने में भी कोई आवरण बीच में आ रहा है। अब उसे हटाना होगा।

'परमाणुवाद का विकास वैशेषिक दर्शन से हुआ है, फिर जैन दर्शन ने उसे अपनाया है। चेतन और अचेतन—इस द्वैत का प्रतिपादन सांख्य दर्शन ने किया है। फिर जैन दर्शन ने उसे अपनाया है।' यह सब ऐसे प्रस्तुत किया जा रहा है कि मानो जैन दर्शन का अपना कोई मौलिक रूप है ही नहीं। वह सारा का सारा ऋण लेकर अपना काम चला रहा है। सच यह है कि परमाणु और पुद्गल के बारे में जितना गम्भीर चिन्तन जैन आचार्यों ने किया है, उतना किसी भी दर्शन के आचार्यों ने नहीं किया। सांख्य दर्शन की प्रकृति और उसका विस्तार एक पुद्गलास्तिकाय की परिधि में आ जाता है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व उससे सर्वथा स्वतन्त्र है। जैन दर्शन की प्राचीनता की अस्वीकृति उसके आधारभूत आगम-सूत्रों के अध्ययन की परम्परा के अभाव और जैन विद्वानों की उपेक्षा-वृत्ति ने ऐसी स्थिति का निर्माण किया है कि जैन दर्शन का देय उसी के

लिए ऋण के रूप मे समझा जा रहा है।

भगवान् महावीर ने वस्तु-मीमास और मूल्य-मीमांसा – दोनों दृष्टियो से तत्त्व का वर्गीकरण किया। वस्तु-मीमासा की दृष्टि से उन्होंने पचास्तिकाय का प्रतिपादन किया और मूल्य-मीमांसा की दृष्टि से उन्होने नौ तत्त्वो का निरूपण किया।

चार्वाक का तात्त्विक वर्गीकरण केवल वस्तु-मीमास की दृष्टि से है। उसके अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—ये चार तत्त्व है। उनसे निर्मित यह जगत् भौतिक और दृश्य है। अदृश्य सत्ता का कोई अस्तित्व नही है।

न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम का तात्त्विक वर्गीकरण एक प्रकार से प्रमाण-मीमासा है। वैशेषिक दर्शन का तात्त्विक वर्गीकरण नैयायिक दर्शन की अपेक्षा वास्तविक है। उसमे गुण, कर्म, सामान्य और विशेष की व्यवस्थित व्याख्या मिलती है। जैन दर्शन की दृष्टि से इनकी स्वतंत्र सत्ता नही है। ये द्रव्य के ही धर्म है। साख्य दर्शन का तात्त्विक वर्गीकरण सृष्टि-क्रम का प्रतिपादन करता है। इनके पचीस तत्त्वो मे मौलिक तत्त्व दो है—प्रकृति और पुरुष। शेष तेईस तत्त्व प्रकृति के विकार हैं। उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। पचास्तिकाय के वर्गीकरण मे पाचो द्रव्यो का स्वतन्त्र अस्तित्व है। कोई भी द्रव्य किसी का गुण या अवान्तर विभाग नही है। गति, स्थिति, अवगाह, चैतन्य तथा वर्ण, गध, रस और स्पर्श—ये विशिष्ट गुण हैं। इन्ही के द्वारा उनकी स्वतंत्र सत्ता है। इस वर्गीकरण मे न प्रमाण-मीमासा है, न गुणो की स्वतन्त्र सत्ता की स्वीकृति और न सृष्टि का क्रम। इसमे दृश्य और अदृश्य, भौतिक और अभौतिक अस्तित्वो का प्रतिपादन है। इस दृष्टि से यह वर्गीकरण मौलिक और वास्तविक है।

वस्तु-मीमासा और मूल्य-मीमासा का वर्गीकरण एक साथ किया होता तो वह नैयायिक, वैशेषिक और साख्य दर्शन जैसा मिलाजुला वर्गीकरण होता। उनकी वैज्ञानिकता समाप्त हो जाती। पचास्तिकाय के कार्य के विषय मे सक्षिप्त चर्चा हो चुकी है। फिर भी उस विषय मे महावीर और गौतम का एक सवाद मै प्रस्तुत करना चाहूंगा। गौतम ने पूछा—'भंते! धर्मास्तिकाय से क्या होता है?' भगवान् ने कहा—'गौतम! आदमी चल रहा है, हवा चल रही है, श्वास चल रहा है, वाणी चल रही है, आखें झपक रही हैं, यह सब धर्मास्तिकाय के सहारे से हो रहा है। यदि वह न हो तो निमेष और उन्मेष नही हो सकता। यदि वह न हो तो आदमी बोल नहीं सकता। यदि वह न हो तो आदमी सोच नहीं सकता। यदि वह नहीं होता तो सब कुछ पुतली की तरह स्थिर और स्पन्दनहीन होता।'

उपनिषद् के ऋषियो ने कहा कि यदि आकाश नही होता तो आनन्द

नही होता। आनन्द कहा होता है? आकाश है, तभी तो आनन्द है। ठीक इसी भाषा मे भगवान् महावीर ने कहा—'धर्मास्तिकाय नही होता तो स्पन्दन भी नही होता। तुम पूछ रहे हो और मैं उत्तर दे रहा हूं, यह इसीलिए हो रहा है कि धर्मास्तिकाय है। यदि वह नही होता तो न तुम पूछ सकते और न मै उत्तर दे सकता। हम मिलते भी नही। जो जहा है, वह वही होता। हमारा मिलन, वाणी का मिलन, शरीर का मिलन, वस्तु का मिलन जो हो रहा है, एक वस्तु एक स्थान से दूसरे स्थान मे आ-जा रही है, यह सब उसी गति-तत्त्व के माध्यम से हो रहा है।' वह अपना सहारा इतने उदासीन भाव से दे रहा है कि किसी को कोई शिकायत नही है। उसमे चेतना नही है, इसलिए न उपकार का अहंकार है और न कोई पक्षपात। वह स्वाभाविक ढंग से अपना कार्य कर रहा है।'

गौतम ने पूछा—'भते ! अधर्मास्तिकाय से क्या होता है?'

भगवान् ने कहा—'तुम अभी ध्यान कर आए हो। उसमे तुम्हारा मन कहां था?'

'भते ! कही नही। मैंने मन को निरुद्ध कर दिया था।'

भगवान् बोले—'यह निरोध, एकाग्रता और स्थिरता अधर्मास्तिकाय के सहारे होता है। यदि वह नही होता तो न मन एकाग्र होता, न मौन होता और न तुम आख मूद बैठ सकते। तुम चलते ही रहते। इस अनन्त आकाश मे अविराम चलते रहते। जिस बिन्दु से चले उस पर फिर कभी नही पहुच पाते। अनन्त आकाश मे खो जाते। किन्तु गति के प्रतिकूल हमारी स्थिति है। इसीलिए हम कही टिके हुए है। इस कार्य मे अधर्मास्तिकाय वैसे ही उदासीन भाव से हमारा सहयोग कर रहा है, जैसे गति मे धर्मास्तिकाय।'

गौतम ने पूछा—'आकाश मे क्या होता है?'

भगवान् ने कहा—'धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, और जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय—इन सबका अस्तित्व आकाश के अस्तित्व पर निर्भर है। वह उन सबको आधार दे रहा है। जिस आकाश खण्ड मे धर्मास्तिकाय है, उसी मे अधर्मास्तिकाय है, उसी मे जीवास्तिकाय और उसी मे पुद्गलास्तिकाय है। आकाश की यह अवकाश देने की क्षमता नही होती तो ये सब साथ नही होते। उसके अभाव मे इन सबका भाव नही होता।'

गौतम ने पूछा—'भते ! जीव क्या करता है!'

भगवान् ने कहा—'वह ज्ञान करता है, अनुभव करता है। उसके पास इन्द्रिया है। वह देखता है, सुनता है, सूघता है, चखता है और छूता है। सामने हरा रंग है। आख ने देखा, उसका काम हो गया। घंटियो की झनझनाहट हो रही है। कान ने सुना, उसका काम समाप्त। हवा के साथ आने वाली सुगन्ध को नाक ने अनुभव किया, उसका काम समाप्त। जीभ ने

फल का रस चखा और उसका काम पूरा हो गया। हाथ ने तने को छुआ और उसका काम पूरा हो गया। किन्तु कुल मिलाकर वह क्या है? यह न आख जानती है और न कान। इसके विखरे हुए अनुभवो को समेटकर संकलन करने वाला जो है, वह है मन। उसके लिए हरा रंग, पत्तियां, पुष्प फल और छाल—ये अलग-अलग नही हैं किन्तु एक ही पेड के विभिन्न रूप हैं। इन्द्रियो के जगत् मे वे अलग-अलग होते हैं और मन के जगत् मे वे सव अभिन्न होकर पेड वन जाते है। मन सोचता है, मनन करता है, कल्पना करता है और स्मृति करता है। जीव के पास वुद्धि है। वह मन के द्वारा प्राप्त सामग्री का विवेक करती है, निर्णय देती है और उसमे कुछ अद्भुत क्षमताए हैं। वह इन्द्रिय और मन से सामग्री प्राप्त किए विना ही कुछ विशिष्ट वातें जान लेती है। ये (इन्द्रिय,मन और वुद्धि) सव जीव की चेतना के भौतिक संस्करण है। इसलिए ये पुद्गलो के माध्यम से एक को जानते हैं। ये ज्ञेय का साक्षात्कार नही कर सकते। शुद्ध चेतना ज्ञेय का साक्षात्कार करती है। वह किसी माध्यम से नही जानती इसीलिए हम उसे प्रत्यक्ष ज्ञान या अतीन्द्रिय ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान का सपूर्ण क्षेत्र जीव के अधिकार मे है।'

गौतम ने पूछा—'भंते! पुद्गल का क्या कार्य है?'

भगवान् ने कहा—'आदमी श्वास लेता है, सोचता है, वोलता है, खाता है—यह सव पुद्गल के आधार पर हो रहा है। श्वास की वर्गणा (पुद्गल समूह) है, इसलिए वह श्वास लेता है। मन की वर्गणा है इसलिए वह सोचता है। भाषा की वर्गणा है, इसलिए वह वोलता है। आहार की वर्गणा है, इसलिए वह खाता है। ये यदि वर्गणाएं नही होती तो न कोई श्वास लेता, न कोई सोचता, न कोई वोलता और न कोई खाता। जितने दृश्य तत्त्व है, वे सव पुद्गल की वर्गणाए है। पुद्गलास्तिकाय का स्वरूप एक है, फिर भी कार्य के आधार पर उसकी अनेक वर्गणाए है। उसे एक उदाहरण के द्वारा समझा जा सकता है। एक ग्वाला भेड़ो को चराता था। वे अनेक लोगो की थी। उसे गिनती करने मे कठिनाई होती थी। उसने एक रास्ता निकाला। एक-एक मालिक की भेडो का एक-एक वर्ग वना दिया और उन्हे एक-एक रग से रग दिया। उसे सुविधा हो गई। यह वर्गणाओ का विभाजन भी कार्यवोध की सुविधा के आधार पर किया गया है। जीव की जितनी भी प्रवृत्ति होती है, वह पुद्गल की सहायता से होती है। यदि वह नही होता तो कोई प्रवृत्ति नही होती। सव कुछ निष्क्रिय और निर्वीर्य होता।

१२

अद्वैत और द्वैत

मनुष्य चेतनावान् प्राणी है। इसलिए वह सोचता है, देखता है। वह मानसिक स्तर पर सोचता है। मन की गहराई मे उतर कर देखता है। सत्य की खोज चिन्तन-मनन और दर्शन से हुई है। उसका विकास सामाजिक संदर्भ मे हुआ है। मनुष्य ने सामाजिक जीवन-जीना प्रारम्भ किया। उसके बाद उसने सत्य की खोज बड़ी तीव्रता से की। उसने देखा कि पहाड क्या है? नदियां क्या है? दिखाई देने वाले ये पदार्थ क्या है? क्या ये ही सब कुछ है या इनसे परे भी कुछ है? क्या ये सृष्ट है या स्वयंभू है? इनका सृष्टा कौन है? अगर कोई है तो वह ज्ञात है या अज्ञात?—इस प्रकार अनेक जिज्ञासाएं मनुष्य के मन मे पैदा हुई और उसने अपनी जिज्ञासाओ का समाधान पाने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ कर दिए। इस शृखला मे दृष्टि और विचारो का विकास हुआ। दृष्टि और विचार—ये दोनो दर्शन परक है। दर्शन का निर्माण किया नही गया, वह हो गया।

मैं जो देखता हू उसे दूसरा माने, या न माने, यह मेरे पर निर्भर नही है। यह निर्भर है सामने वाले पर। मैंने जो अन्तर्दृष्टि से देखा, उसे समझाने के लिए, उसकी व्याख्या करने के लिए, तर्क के माध्यम से। मैंने जो देखा, उसे मैं अपने तर्क के द्वारा प्रस्तुत करता हू और सामने वाले व्यक्ति को मेरा तर्क स्वीकार हो जाता है तो मेरा विचार और उसका विचार—दोनों का विचार एक हो जाता है। तर्क दोनो को जोडने का काम करता है अन्तर्दृष्टि वैयक्तिक है और तर्क है दोनों को जोडने वाला सूत्र। दोनो मे वैचारिक एकता का संपादन करने वाला सूत्र है तर्क। इस प्रकार अन्तर्दृष्टि और विचार—दोनों मिलकर दर्शन की आत्मा का निर्माण करते है। दर्शन का प्रासाद इन दोनो खम्भों पर खडा हुआ है।

दर्शन की दो धाराएं

दर्शन की धारा बहुत प्राचीन है। विश्व के इतिहास मे दो देश थे दर्शन के आविष्कारक—भारत और यूनान। भारतीय दार्शनिक और यूनानी दार्शनिक—ये दोनो विश्व के सभी दर्शनो को प्रभावित करने वाले हुए हैं। भारत के दार्शनिको ने पूर्वी जगत् को प्रभावित किया और यूनान के दार्शनिको ने पश्चिम जगत् को प्रभावित किया। पश्चिम के सारे दर्शन यूनानी

दर्शन से प्रभावित हैं और पूर्व के सारे दर्शन भारतीय दर्शन से प्रभावित है। इस प्रकार विश्व के पटल पर इन दो देशो के दार्शनिको ने अपनी विचार धारा का पूरा प्रभुत्व स्थापित किया।

मेरे सामने दर्शन की अनेक धाराए है। उनका वर्गीकरण भौतिकवाद और अध्यात्मवाद—इन दो रूपो मे करना मुझे इष्ट है। मनुष्य ने जब देखा तब प्रारम्भिक दर्शन मे जो स्थूल था वह सामने आ गया। मैं खडा हूं। मेरे सामने एक वृक्ष है। मैं उसे जितनी सुगमता से देख सकता हूं उतनी सुगमता से उसके नीचे चलने वाली चीटी को नही देख सकता। क्योकि वृक्ष स्थूल है और चीटी सूक्ष्म। उस पर मेरी दृष्टि नही दौडती, वृक्ष पर पहले ही दौड जाती है। आदमी स्थूल को जल्दी पकडता है। सूक्ष्म तक पहुचने मे उसे बहुत गहराई मे उतरना पडता है। हमारे सामने जो स्थूल जगत् है, वह भौतिक है। दार्शनिको ने सबसे पहले भौतिक जगत् को देखा। उन्होने देखा, दुनियां मे पृथ्वी है, पानी है, अग्नि है और वायु है। उन्होने देखा कि जो दिखाई दे रहा है वह इन्ही के द्वारा निष्पन्न है। इन चार भूतो से दुनिया का निर्माण हुआ है।

कुछ चिन्तक आगे बढे। उन्होने आकाश को भी खोजा। आकाश भी एक तत्त्व है, भूत है। भारतीय दर्शन मे दो धाराए चली—एक चतुर्भूतवादी और एक पचभूतवादी। पश्चिमी दार्शनिको मे भी इस विषय मे काफी मतभेद रहा। किसी ने माना सारी दुनिया का मूल जल है, किसी ने माना कि वायु है और किसी ने माना कि अग्नि है। जलवादी, वायुवादी और अग्निवादी—ये स्थूलवादी विचारक रहे हैं। इन दोनो धाराओं के विकास के बाद मनुष्य के मन मे फिर द्वन्द्व उत्पन्न हुआ। उसने सोचा—भूत अचेतन है। यह चेतन क्या है ? सोचता कौन है ? विचार कौन करता है ? जानने का प्रयत्न कौन करता है ? भौतिक तत्त्वो मे चिन्तन, मनन और ज्ञान नही है। उसने फिर चेतना की ओर ध्यान दिया। चेतना भौतिक तत्त्वो मे नही है। पृथ्वी मे चेतना नही है, पानी मे चेतना नही है, अग्नि, वायु और आकाश मे चेतना नही है। चिन्तन करते-करते वह इस निष्कर्ष पर पहुचा कि चेतना भौतिक तत्त्वो की परिणति है, उनके संघटन की क्रिया है। उनसे भिन्न कोई तत्त्व नही है। यदि उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व होता तो वह भौतिक तत्त्वो से कही पृथक् दिखाई देता। जैसे जल का कण हमे दिखाई देता है वैसे चेतना की स्वतन्त्र सत्ता हमे कही दिखाई नही देती। भूतवादी दार्शनिको ने चेतना को स्वीकार किया किन्तु उसकी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नही किया। दूसरी धारा [illegible] को की है जो स्थूल जगत् मे रुके नही, जिनके चरण उससे [illegible] स्थूल को देखा और साथ-साथ [illegible] ना। उन

मे आगे बढा कि चेतना भौतिक नही है। वह न प्रत्येक भूत मे है और न उनकी सामुदायिक परिणति मे है। प्रत्येक भूत यदि उसका उपादान नही है तो उनकी संहति भी चेतना का उपादान नही हो सकती। संहति मे वही गुण प्रकट होता है, उपादान के रूप मे जिसकी सत्ता प्रत्येक इकाई मे होती है। चेतना का उपादान न कोई भौतिक इकाई है और न उसकी संहति। इस स्थिति मे उसका उपादान कोई स्वतन्त्र है। वे चिन्तन-मनन से आगे ध्यान की गहराई मे गए और उन्होने चेतना के उपादान का साक्षात्कार किया। उन्होने उसका नाम रखा 'आत्मा' इंद्रियो से दृष्ट नही है। वह चेतना की अधिक गहराई मे जाने पर ही दृष्ट होती है इसलिए आत्मवादी दार्शनिको ने दर्शन की अध्यात्मवादी धारा को विकसित किया।

जैन दर्शन का द्वैतवाद

जैन दर्शन अध्यात्मवादी दर्शन है। वह आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करता है। आत्मवादी दार्शनिको ने आत्मा का भिन्न-भिन्न रूपो मे प्रतिपादन किया है। वेदात भारत के प्रमुख दर्शनो मे से एक है। उसने उपनिषदो के आधार पर आत्मा की व्याख्या की। उपनिषद् भारतीय तत्त्व-चिन्तन के अपूर्व कोश है। उनमे शताब्दियो तक होने वाला सूक्ष्म चिन्तन संकलित है। सृष्टि के गहनतम रहस्यो को जानने का जो तीव्रतम प्रयत्न हुआ उसकी प्रतिध्वनि उपनिषद् के शब्दो मे सुनाई देती है। वेदान्त उनका प्रतिनिधित्व करता है। उसका सिद्धांत है—मूल आत्मा एक है। उसकी संज्ञा है 'ब्रह्म'। चैतन्य की पारमार्थिक सत्ता वही है। दृश्य जगत् मे जो चेतन और अचेतन है, वह सब उसी मूल आत्मा का प्रपच है। यह 'चैतन्याद्वैतवाद' है। 'जडाद्वैतवादी' दार्शनिकों का अभिमत है भूत ही वास्तविक सत्ता है, चेतन वास्तविक सत्ता नही है। ठीक इसके विपरीत 'आत्माद्वैतवादी' वेदान्त का अभिमत है—चेतन ही वास्तविक सत्ता है, भूत वास्तविक सत्ता नही है।

जडवादी कहते है—भूत चेतन से उत्पन्न हुआ है तो आत्माद्वैतवादी कहते है कि चेतन से भूत उत्पन्न हुआ है। दोनो एक दूसरे के विरोधी हैं। दोनो एक-दूसरे के आमने-सामने खड़े है। दोनो एक-दूसरे की टकराहट को झेल रहे है और एक-दूसरे का निरसन कर रहे है।

जैन दर्शन आत्मा के स्वतन्त्रत अस्तित्व को स्वीकार करता है, चेतना की वास्तविकता को स्वीकार करता है। फिर भी अचेतन की अवास्तविकता का प्रतिपादन नही करता। वह चेतन को जितना वास्तविक मानता है उतना ही अचेतन को वास्तविक मानता है। इसलिए वह 'जड़द्वैतवादी' दर्शन का सीधा विरोधी नही है। वह दोनो के मध्य मे है। उसकी धारा

दोनो की ओर प्रवाहित होती है। चेतन की वास्तविक सत्ता है, इसमे उसकी स्वीकृति है और अचेतन की वास्तविक सत्ता है, इसमे भी उसकी स्वीकृति है। इस उभयपक्षी स्वीकृति के कारण जैन दर्शन द्वैतवादी है—चेतन और अचेतन की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करने वाला है।

दर्शन की तीन धाराएं विकसित हो गई—जडाद्वैतवाद, आत्माद्वैतवाद और द्वैतवाद। भारतीय दर्शन इन तीन धाराओ मे बटा हुआ है। कुछ आधुनिक विद्वान् मानते है कि साख्य दर्शन बहुत प्राचीन है। जैन दर्शन का विकास उसके आधार पर हुआ है। मुझे लगता है यह एकागी स्वीकार है। इसमे कोई सन्देह नही कि साख्य दर्शन बहुत प्राचीन है। किन्तु इस सत्य को भी विस्मृत नही करना चाहिए कि जैन दर्शन उससे कम प्राचीन नही है। साख्य दर्शन उसी श्रमण दर्शन की धारा मे विकसित हुआ था जिसमे जैन दर्शन विकसित हुआ। दोनो एक ही धारा के दर्शन है, इसलिए उनमे समान तत्त्वो की खोज की जा सकती है, किन्तु उसमे उनके पौर्वापर्य का अनुमान नही किया जा सकता। शंकराचार्य ने लिखा है—'कपिल का साख्य दर्शन वेद-विरुद्ध है और महर्षि मनु का जो वेदानुसारी वचन है, उसके भी विरुद्ध है। अर्थात् वह श्रुति और स्मृति—दोनो के विरुद्ध है, इसलिए वह विचारणीय नही है।' 'पद्मपुराण मे एक उल्लेख मिलता है—'नैयायिक, वैशेषिक और पतजलि का योग दर्शन—ये श्रुति विरुद्ध होने के कारण त्याज्य है।' मुझे आश्चर्य होता है कि इन तथ्यो पर विद्वानो का ध्यान क्यो नही आकर्षित हुआ? प्राचीनता और अर्वाचीनता के निर्णय मे इनका उपयोग क्यो नही किया गया?

आप पतजलि के योग दर्शन को देख जाइए। उसमे अनेक शब्द ऐसे है जो श्रमण साहित्य मे मिलेंगे। वैदिक साहित्य मे नही खोजे जा सकते। केवली, ज्ञानावरणीय कर्म, सम्यग ज्ञान, सम्यग् दर्शन, चरमदेह, सोपक्रम, निरुपक्रम, सवितर्क, सविचार, निर्विचार आदि-आदि शब्द श्रमण परम्परा मे बहुलता से व्यवहृत हैं। साख्य और योग—ये दोनो एक धारा के हैं। एक दर्शन पक्ष और दूसरा साधना पक्ष। ये दोनो वैदिक परम्परा मे नही थे इसलिए श्रमण परम्परा के दर्शनो से इनका समन्वय स्वाभाविक है। श्रमण दर्शनो मे अर्हत् दर्शन प्रभाशाली रहा है। जैन दर्शन उसकी मुख्य धारा है। साख्य, आजीवक और बौद्ध—ये सब श्रमण दर्शन रहे है। इनकी तात्त्विक परम्परा के बीच सुदीर्घ कालीन श्रामणिक चिन्तन मे निहित है।

जैन दर्शन ने द्वैतवाद का प्रतिपादन किया। साख्य भी द्वैतवादी है। उसने दो तत्त्वो—प्रकृति और पुरुष की स्थापना की। जैन दर्शन ने दो तत्त्वो—चेतन और अचेतन का प्रतिपादन किया। कहा जाता है, इस प्रतिपादन मे जैन दर्शन पर साख्य दर्शन का प्रभाव है। इस मान्यता का कारण

जैन साहित्य का अपरिचय है। विद्वानो के सामने जैन दर्शन का मुख्य ग्रन्थ 'तत्वार्थ सूत्र रहा। किन्तु उससे पाच-छह शताब्दी पूर्व रचित आगम साहित्य उनके पास नही पहुंचा। यदि वह पहुचा होता तो यह धारणा निर्मूल हो जाती। जैन दर्शन और साख्य दर्शन—दोनो द्वैतवादी है। किन्तु द्वैतवादी होने पर भी उनकी दर्शन-धारा मे कुछ मौलिक अन्तर है। साख्य दर्शन का स्वीकार है कि प्रकृति से सारी सृष्टि का विकास हुआ है। सृष्टि का मूल कारण है प्रकृति और सृष्टि है प्रकृति की विकृति। जैन दर्शन ने सृष्टि की व्याख्या चेतन और अचेतन—दोनो की संयुक्त प्रक्रिया के आधार पर की। उसके अनुसार केवल पुद्गल और केवल जीव से सृष्टि का विकास नही होता किन्तु जीव और पुद्गल—दोनो का समुचित योग होने पर ही वह होता है।

विश्व की व्याख्या का जैन दृष्टिकोण

दार्शनिक आचार्यो ने विश्व की व्याख्या विभिन्न दृष्टिकोणो से की है आचार्य शंकर के मतानुसार दृश्य जगत् पारमार्थिक नही है। प्रश्न हुआ—फिर यह क्या है ? उत्तर मिला—यह माया है। सुपुप्ति अवस्था का यह अनुभव है। आपके स्वप्न मे सिंह देखा, आप भय से प्रकपित हो गए। आप जागृत अवस्थ मे आए, सिंह का भय समाप्त हो गया। स्वप्नावस्था का सिंह जागृत अवस्था का सिंह नही है जागृत अवस्था मे स्वप्नावस्था के सिंह की वास्तविक सत्ता नही है। इसलिए यह दृश्य जगत् व्यावहारिक सत्य है, वास्तविक सत्य नही है। हम लोग जागृत अवस्था मे जो देख रहे हैं और हमे जो वास्तविक प्रतीत हो रहा है वह भी ब्रह्म की स्थिति मे जाने पर वैसे ही मिथ्या हो जायगा जैसे स्वप्न जगत् के दृश्य जागृत अवस्था मे मिथ्या हो जाते है। इस प्रकार उन्होने दो सत्यों से विश्व की व्याख्या की—एक व्यवहार सत्य और एक परमार्थ सत्य। ब्रह्म पारमार्थिक सत्य है और दृश्य जगत् व्यावहारिक सत्य है।

बौद्ध दर्शन ने भी संवृति सत्य और पारमार्थिक सत्य—इन दो दृष्टियो से विश्व की व्याख्या की। उसके अनुसार चेतन और अचेतन—दोनो क्षणजीवी है। यह परमार्थिक सत्य है। उनकी त्रैकालिक एकता की प्रतीति सावृतिक सत्य है। इन दोनो दृष्टियों ने सम्भवत. वेदान्त के दृष्टिकोण को प्रभावित किया। आचार्य शंकर के गुरु 'गौडपाद' बौद्ध धर्म के प्रकाण्ड विद्वान् थे। हो सकता है कि गौडपाद का शकर पर प्रभाव पडा हो और उन्होने प्रकारान्तर से उपनिषदो के आधार पर मायावाद की व्याख्या की हो।

जैन दर्शन ने विश्व की व्याख्या अनेकान्त दृष्टि से की। अनेकान्त

के अनुसार द्रव्य मे अनन्त धर्म हैं। जितने धर्म हैं उतने ही उन्हे जानने के 'नय' है और जितने 'नय' हैं उतने ही उनके प्रतिपादन के प्रकार हैं। नयो का समाहार करने पर मूल नय दो होते हैं—नैश्चयिक और व्यावहारिक। नैश्चयिक नय की दृष्टि से चेतन और अचेतन—दोनो शाश्वत और वास्तविक सत्य है। व्यावहारिक नय की दृष्टि मे चेतन और अचेतन—दोनो के पर्याय अशाश्वत, किन्तु वास्तविक सत्य है। नैश्चयिक नय द्रव्य की व्याख्या करता है और पर्यायार्थिक नय उसमे होने वाले विविध परिणमनो की व्याख्या करता है। व्यावहारिक नय की दृष्टि मे चीनी मीठी है, सफेद है किन्तु नैश्चयिक नय की दृष्टि मे उसमे सब वर्ण, सब रस, सब गन्ध और सब स्पर्श होते है। निष्कर्ष की भाषा मे कहा जा सकता है कि चेतन और अचेतन—दोनो निरपेक्ष सत्य हैं तथा उनमे होने वाले परिवर्तन सापेक्ष सत्य हैं। निरपेक्ष और सापेक्ष—दोनो सत्यो की समन्विति ही वास्तविक सत्य है।

विश्व-व्यवस्था और सह-अस्तित्व

नीम की एक टहनी मे अनन्त धर्म है। वह मूल द्रव्य नही है। वह द्रव्य की एक पर्याय है। मूल द्रव्य पुद्‌गल है और मूल द्रव्य जीव है। जीव और पुद्‌गल दोनो का योग मिला और नीम उत्पन्न हो गया, टहनी निर्मित हो गई। उस टहनी मे जीव और पुद्‌गल दोनो साथ रह रहे हैं। जीव चेतन और पुद्‌गल अचेतन और दोनो परस्पर विरोधी। वह द्रव्य ही नही होता जिसमे विरोधी धर्मो के अनन्त युगल न हो। एक परमाणु मे भी अनन्त विरोधी युगल होते हैं। इसीलिए जैन दर्शन का प्रत्येक द्रव्य सत् भी है और असत् भी है, नित्य भी है और अनित्य भी है। शंकराचार्य ने कहा—दार्शनिक को सबसे पहले नित्य और अनित्य का विवेक करना चाहिए। जो नित्य और अनित्य का विवेक नही रखता वह दार्शनिक नही हो सकता। प्रत्यक्ष दर्शन के अभाव मे सत्य का प्रतिपादन नही कर सकता। महर्षि पतंजलि ने कहा—'नित्य को अनित्य और अनित्य को नित्य मानना अविद्या है।' शंकराचार्य ने कहा—'ब्रह्म नित्य और जगत् अनित्य है।' उन्होंने नित्य और अनित्य—दोनो का प्रतिपादन किया किन्तु उनकी दृष्टि मे ऐसा द्रव्य एक भी नही है जो नित्य भी हो और अनित्य भी हो। ब्रह्म नित्य ही है, वह अनित्य नही है। जगत् अनित्य ही है, वह नित्य नही है। जैन दर्शन इसे दूसरे दृष्टिकोण से देखता है। उसकी दृष्टि का सार यह है—ब्रह्म अनित्य भी है और जगत् नित्य भी है। नित्य और अनित्य—दोनो के सह-अस्तित्व मे कुछ दार्शनिक विरोधाभास मानते हैं और वे यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि यह जैन दर्शन का दृष्टि-भ्रम है। किन्तु जैन दार्शनिक इस

आरोप को स्वीकार नही करते। उनके मतानुसार द्रव्य की प्रकृति मे सामंजस्य की अपूर्ण क्षमता है। उसमे कोई विरोधाभास नही है। यह विरोधाभास हमारे व्यावहारिक दृष्टिकोण में है। द्रव्य की व्याख्या नैश्चयिक दृष्टिकोण से की जा सकती है, केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से उसकी व्याख्या नही की जा सकती। आचार्य हेमचन्द्र ने महावीर की स्तुति मे लिखा है—'आपकी आज्ञा को नही जानने वाले आकाश को नित्य और दीपक को अनित्य मानते है। आकाश जैसा है वैसा ही रहता है, इसीलिए वह नित्य है। दीपक की लौ आती है और चली जाती है। हवा का झोका आता है और दीपक बुझ जाता है। इसीलिए वह अनित्य है।' महावीर का दर्शन इससे भिन्न है। उसकी दृष्टि मे जैसे आकाश नित्य है वैसे दीपक भी नित्य है और जैसे दीपक अनित्य है वैसे आकाश भी अनित्य है। यह स्याद्वाद की मर्यादा है। कोई भी द्रव्य इसका अतिक्रमण नही करता। दीपक एक पर्याय है। वह विनिष्ट हो जाता है किन्तु उसका आधार-तत्त्व पुद्गल कभी नष्ट नही होता। आकाश आधारभूत तत्त्व है, वह कभी नष्ट नही होता। किन्तु घटाकाश, पटाकाश और गृहाकाश—ये उसके पर्याय है। ये उत्पन्न और विनिष्ट होते रहते है। हम आकाश को आधार-तत्त्व के रूप मे ही देखते है, तब उसे केवल नित्य कहते है। हम दीपक को वर्तमान पर्याय के रूप मे ही देखते हैं, तब उसे अनित्य कहते है। पर कोई भी आधार-तत्त्व से शून्य नही होता। इसलिए आकाश को अनित्य और दीपक को नित्य कहना दृष्टि का भ्रम नही, किन्तु यथार्थ है।

जैन दर्शन ने विरोधी युगलो का सह-अस्तित्व स्वीकार किया इसलिए वह सर्वग्राही दर्शन हो गया। वह किसी भी विचारधारा को असत्य की दृष्टि से नही देखता किन्तु सापेक्ष-सत्य की दृष्टि से देखता है। जितने विचार है, वे सब पर्याय है और पर्याय निरपेक्ष-सत्य नहा हो सकता। निरपेक्ष-सत्य तो मूल द्रव्य हो सकता है। जैन-दर्शन को जडवादी विचार अमान्य नही है किन्तु साथ-साथ आत्मवादी विचार भी उतना ही मान्य है जितना कि जडवादी विचार। दोनों विचारो का योग होने पर ही जैन दर्शन का यथार्थ बनता है।

मैं एक बार आचार्य कुन्दकुन्द का 'समयसार' पढ रहा था। नैश्चयिक नय की जलराशि मे डुबकियां लगाते-लगाते मुझे ऐसा अभ्यास हुआ कि कही मैं अद्वैतवादी तो नही हो गया हूं। सचमुच मेरा मानस ऐसा बन गया कि द्वैत की अपेक्षा अद्वैत का सिद्धान्त अधिक गम्भीर है। मेरी द्वैत की दृष्टि समाप्त हो गई। हम द्वैत की दिशा से चलते है और चलते-चलते ऐसे स्थान पर पहुचते है जहां केवल सत्ता है। सत्ता मे कोई भेद नही होता। विभक्त होता है केवल पर्याय। मैं दर्शन से काम लेता रहा तब तक मुझे अद्वैत का

अनुभव होता रहा। दर्शन अनाकार होता है। वह द्रव्य को देखता है, इसलिए उसके सामने कोई आकार नही होता। केवल सामान्य होता है, कोई विशेष नही होता। मैंने जब ज्ञान मे काम लेना शुरू किया, तब मेरे सामने पर्याय आ गये। जैसे ही मैंने पर्यायो को जानना प्रारम्भ किया, मैं फिर द्वैतवादी हो गया। प्रत्येक पर्याय का एक निश्चित आकार होता है और ज्ञान उस आकार को जानता है। हम जब-जब अनाकार को देखते है तब-तब अस्तित्ववादी या अद्वैतवादी होते हैं। पर्याय द्रव्य मे विलीन हो जाते है और द्रव्य अस्तित्व मे विलीन हो जाते है। शेप बचता है कोरा अस्तित्व। उसमे न चेतन और अचेतन का भेद होता है, न मूर्त और अमूर्त का भेद होता है। कोई भेद नही होता, कोई आकार नही होता, केवल सत्ता शेप रह जाती है। अनेकान्त की भाषा मे यह 'सग्रह नय' का सत्य है। अनेकान्त मर्यादा मे केवल एक नय ही सत्य नही होता। शेप सब नयो की सत्यता स्वीकार करने पर ही कोई नय सत्य होता है। सग्रह नय सत्य है, अद्वैत सत्य है, किन्तु व्यवहार नय या द्वैत भी उतना ही सत्य है। अस्तित्व द्रव्य और पर्याय—इन दो आकारो मे विभक्त होता है। द्रव्य पांच अस्तिकायो मे विभक्त होता है। पर्याय अनन्त रूपो मे विभक्त होता है। यह द्वैत उतना ही सत्य होता है, जितना कि अद्वैत। इस स्वीकृति के बाद हम जैन दर्शन को न अद्वैतवादी कह सकते है और न द्वैतवादी। वह अद्वैत-द्वैतवादी है।

द्रव्य का अस्तित्व जो है वह शाश्वत है। वह कभी भी नष्ट नही होता। पर्याय बदलता रहता है। असत् पर्याय की उत्पत्ति और सत् पर्याय का नाश—यह क्रम बराबर चलता रहता है। इसलिए जैन दर्शन न सत्वादी है और न असत्वादी, किन्तु सत्-असत्वादी है। ०